UGC CARE LISTED
(Arts & Humanities)

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-24

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष-12 July-December 2024 No./ अंक 23

सम्पादक

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्षचर, वेदविभाग, गुरुकुलकांगड़ी (समविश्वविद्यालय)

कुलपति

उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय

हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri (Deemed to be University)

Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India

http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
July-December 2024

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Satyapal Singh, Chancellor, GK(DU), Haridwar
Prof. Hemalata K., Vice-Chancellor, GK(DU), Haridwar

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Ex. Head, Dept. of Veda, GK(DU),
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541
Vice-Chancellor,
Uttarakhand Sanskrit University,
Haridwar-249402

Advisory Board

Prof. Nicholas Kazanas 'Padm Shri', Athens
Prof. Balram Singh, USA
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, 'President Awardee', Delhi
Prof. Shashi Prabha Kumar, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Upendra Kumar Tripathi, Varanasi
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Renubala, Amritsar
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Prof. Sunil Kumar, Haridwar
Prof. R.G. Murli Krishna, Delhi
Prof. Madhukeshwar Bhatt, Delhi
Prof. T. Ganesh Pandit, Delhi
Dr. Aparna Dhir, USA
Dr. Anju Kumari
Dr. Udham Singh

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C., Patanjali University
Prof. Shrinivasa Varakhedi, V.C., C.S.U., Delhi
Prof. Prahlad Joshi, V.C., KBVSASU, Assam
Prof. M.M. Pathak, V.C., SLBSRSU, New Delhi
Prof. C.G. Vijayakumar, V.C., MPSVV, Ujjain

Departmental Advisory Board

Prof. Prabhat Kumar

Reviewers

Acharya Balveer, Rohtak
Prof. Ashutosh Gupta, Shrinagar

Finance Advisor

Prof. Devendra Gupta, F.O.
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

Department of Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 1200.00 Annual, US $ 120,
Single Copy: Rs. 600.00
Rs. 5000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Sunil Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007

UGC CARE listed (Arts & Humanities)
ISSN : 2277-4351
RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष-12 **July–December 2024** **No./अंक 23**

सम्पादक

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्षचर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय)

कुलपति

उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय) हरिद्वार

(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri Deemed to be University

Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India

http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥ -ऋ. 3/53/8

पदार्थः- (रूपंरूपम्) प्रतिरूपम् (मघवा) बहुधनवान् (बोभवीति) भृशं भवति (मायाः) प्रज्ञाः (कृण्वानः) (तन्वम्) शरीरम् (परि) सर्वतः (स्वाम्) स्वकीयाम् (त्रिः) त्रिवारम् (यत्) यः (दिवः) प्रकाशान् (परि) (मुहूर्त्तम्) घटिकाद्वयम् (आ) (अगात्) प्राप्नुयात् (स्वैः) स्वकीयैः (मन्त्रैः) विचारैः (अनृतुपाः) य ऋतून् पाति स ऋतुपा न ऋतुपा अनृतुपाः (ऋतावा) सत्यवान्॥

अन्वयः- यद्य ऋतावा मघवा सूर्य्यो दिवो मुहूर्त्तमिव स्वैर्मन्त्रैरनृतुपाः सन् स्वां तन्वं त्रिः पर्यागाद्रूपंरूपं प्रति मायाः कृण्वानः सन् परि बोभवीति तमध्यापकमुपदेष्टारञ्च कुर्य्युः।

भावार्थः- ये परमेश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां स्वरूपविदः सद्योऽन्येभ्यो विज्ञानप्रदाः सूर्य्य इव सुशिक्षासभ्यताविनयप्रकाशकाः स्युस्ते विद्याधर्मराजमन्त्रवर्द्धने नियोजनीयाः।

पदार्थः- (यत्) जो (ऋतावा) सत्य से युक्त (मघवा) बहुत धन से युक्त (सूर्य्यः) सूर्य्य (दिवः) प्रकाशों को (मुहूर्त्तम्) दो घड़ी (स्वैः) अपने (मन्त्रैः) विचारों से (अनृतुपाः) नहीं ऋतुओं का पालन करने वाला होकर (स्वाम्) अपने (तन्वम्) शरीर को (त्रिः) तीन वार (परि, आ) सर्व प्रकार (अगात्) प्राप्त होवें और (रूपं रूपम्) रूप रूप के प्रति (मायाः) बुद्धियों को (कृण्वानः) करते हुए (परि, बोभवीति) अत्यन्त होता है उसको अध्यापक और उपदेश देने वाला करें।

भावार्थः- जो परमेश्वर को ले के पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के स्वरूप जानने और शीघ्र अन्य जनों के लिये विज्ञान देने और सूर्य्य के सदृश उत्तम शिक्षा, सभ्यता और विनय के प्रकाश करने वाले होवें वे विद्या, धर्म और राजधर्म के मन्त्र बढ़ाने में नियत करने के योग्य हैं॥

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय (Editorial) *ix*

आयुर्वेदीय निदानग्रन्थों की परम्परा में
आचार्य बालकृष्ण प्रणीत सौमित्रेयनिदानम्

हिन्दी संभाग

01. **सांख्य के प्रकृतिस्वातन्त्र्यवाद की समीक्षा** 1
–डॉ. स्वामी प्रज्ञानदेव (प्रीतम)

02. **मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में वैदिक दृष्टिकोण** 9
–डॉ. प्रशान्त सरकार

03. **योग उपनिषदों में वर्णित प्राण एवं प्राणायाम का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक स्वरूप** 15
–केसर, चारु मेहता, प्रो. नीरू नत्थानी

04. **लिङ्गप्रमाण-स्वरूपनिरूपण** 29
–डॉ. रामचन्द्र मेघवाल

05. **स्वास्थ्य संवर्धन में अन्नमयकोश एवं प्राणमयकोश की भूमिका : एक विवेचनात्मक अध्ययन** 37
– सुरेन्द्र
– प्रो. महावीर अग्रवाल

06. **बौधायनशुल्बसूत्र में गणितीय अवधारणा : आधुनिक सन्दर्भ** 49
–आयुष नंदन
–प्रो. दया शंकर तिवारी

07. **स्वामी योगेश्वरानन्द परमहंस द्वारा वर्णित आत्मतत्त्वोत्पत्ति सिद्धान्त** 55
–डॉ. लीना झा
–अतुल त्यागी

संस्कृत-संभागः

08. भारतीयमायुर्विज्ञानम् 61
-श्वेतार्या
-डॉ. दीनदयालः

09. शिक्षाप्रातिशाख्यानुसारं वर्णोच्चारणस्थानविमर्शः 65
-डॉ. सुदीप-मण्डलः

10. आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्सार्थं ओषधीनां महत्वम् 75
-डॉ. स्मृति सरकार

11. प्रधानोपनिषत्सु मानवीयमूल्यबोधः 84
-अलोकबेपारी

English Section

12. **Assertion of Bhartṛhari's Concept of *Śabdabrahma* in Emily Dickenson's poetry** 91
- Dr. Ashima Shrawan

13. **Devine Feminity in the Ṛgveda Exploration by Gouri Dharmapal** 100
- Mou Adhya
- Prof. Manudev Bandhu

14. **Cyber Mindfulness : A New Paradigm Through the Lens of Ancient Indian Knowledge** 108
- Priyanka Soni
- Arun Kumar
- Nikita Srivastava
- Rajat Singh

15. **Effects of Yogasanas in the treatment of cervical spondylosis** 118
- Samriti Nayak
- Dr. B.M.N. Kumar
- Prof. J.S Tripathi

16. **Diverse Perspectives and Approaches in Shaping Indian Philosophical Traditions with Debate, Dialogue and Narratives** **126**
- Dr. Nikita Singh

17. **Mantras : Ancient Vedic Keys to Modern Wellness** **134**
- Dr. Deeja C. Radhakrishnan
- Dr. Mahesh Kumar Harit
- Dr. Vinay Pawar

18. **Educational Administration and Management of Vedic Gurukulas : A Systematic Review Literature** **147**
- Surbhi Tak
- Prof. Asit K. Mantry

19. **Rectifying and Clarifying the Illusionary Thoughts on Vedas : A Logical Analysis Based on Shastras** **160**
-Dr. Narendrakumar D. Vasava

20. **The Evolution of Women's Status in Ancient India : From Vedic Times to Post-Vedic Periods** **168**
-Shiny K. Mathew

✦✦✦

सम्पादकीय

आयुर्वेदीय निदानग्रन्थों की परम्परा में आचार्य बालकृष्ण प्रणीत सौमित्रेयनिदानम्

अनादिकाल से सतत प्रवहमान 'आयुर्वेद' विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति है। धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि में 'आरोग्य' को मूल मानते हुए आरम्भ से ही मानव स्वास्थ्य तथा तदर्थ चिकित्सा का क्रम निरन्तर चला आ रहा है। 'श्रुतिपरम्परा' से प्राप्त आयुर्वेद ज्ञान को समय की आवश्यकतानुसार ग्रन्थों में निबद्ध किया गया। इसके परिणामस्वरूप मानवकल्याणार्थ आयुर्वेद का विपुल साहित्य विद्यमान है। नाना प्रकार की चिकित्साविधियों से समन्वित आयुर्वेद को कायचिकित्सा आदि आठ अङ्गों में बाँटा गया है। यह अष्टाङ्ग आयुर्वेद मूलतः त्रिसूत्रात्मक है। आचार्य चरक के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा को हेतु, लिङ्ग व औषध रूप त्रिसूत्रात्मक आयुर्वेद का बोध हुआ था-

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥ (च.सं.सू-1.24)

इस प्रकार 1. हेतु (रोग की उत्पत्ति का कारण), 2. लिङ्ग (रोग व आरोग्य का लक्षण), तथा 3. औषध (स्वस्थ व रोगी के लिए हितकारी चिकित्सा प्रक्रिया)- इन तीनों का पल्लवित रूप ही अष्टाङ्ग आयुर्वेद है। आयुर्वेदीय अष्टाङ्ग में भी 'निदान' व 'चिकित्सा' का विशिष्ट महत्त्व है।

रोगविज्ञान की महत्ता को देखते हुए कालान्तर में 'निदान' को आधार बनाकर स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी प्रणयन किया गया। इस विषय पर सर्वप्रथम माधवकरप्रणीत प्राचीनतम ग्रन्थ 'माधवनिदानम्' उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त हंसराजनिदान, अञ्जननिदान, सिद्धान्तनिदान आदि निदान पर आधारित उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

इसी क्रम में निदानग्रन्थों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये चिरकाल के अनन्तर 21 वीं शताब्दी में आयुर्वेद व वनस्पतिविज्ञान के मर्मज्ञ तथा संस्कृतभाषानुरागी श्रद्धेय आचार्यबालकृष्ण जी के द्वारा **सौमित्रेयनिदानम्** नामक एक बृहद् ग्रन्थ की रचना की गई है, जिसका लोकार्पण 7 अगस्त, 2024 को केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति श्री श्रीनिवास बरखेड़ी, केन्द्रीय आयुर्वेदिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् के महानिदेशक प्रोफेसर रविनारायण आचार्य, राष्ट्रीय

भारतीय चिकित्सा पद्धति आयोग के अध्यक्ष वैद्य श्री जयन्त देवपुजारी और राष्ट्रीय भारतीय चिकित्सा पद्धति आयोग में आचार एवं पंजीकरण बोर्ड के अध्यक्ष प्रोफेसर (वैद्य) राकेश शर्मा सदृश आयुर्वेद एवं संस्कृत के विशेषज्ञों की उपस्थिति में वैदिक संस्कृति के उन्नायक योगऋषि स्वामी रामदेव जी के द्वारा किया गया।

सौमित्रेयनिदानम् का वैशिष्ट्य–

सौमित्रेयनिदानम् व्याधियों से सम्बन्धित शास्त्रीयशैली में विरचित एक श्लोकबद्ध बृहद् आयुर्वेदीय निदानग्रन्थ है। विश्व में मानवमात्र के स्वास्थ्य संरक्षण और विभिन्न व्याधियों से ग्रस्त रोगियों के रोगों के निवारण के संकल्प को लेकर ही ग्रन्थकार के द्वारा इसका प्रणयन किया गया है। अर्वाचीन युग में सभी व्याधियों का आयुर्वेद से उपचार करने के साथ-साथ आयुर्वेद का पठन-पाठन करने वाले पाठकों तक सम्पूर्ण व्याधियों के ज्ञान को पहुंचाना भी ग्रन्थकार को अभीष्ट है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद सहित रोगी के स्वास्थ्य से सम्बन्धित सम्पूर्ण पद्धतियों के द्वारा चिकित्सापरायण चिकित्सकों के लिए व जन स्वास्थ्य सम्बन्धी नीति-निर्माताओं के लिए अतीव उपयोगी होगा और सम्पूर्ण स्वास्थ्य के अभिलाषी जनों के लिए रोगमुक्त जीवन की ओर बढ़ने में मित्र के समान सहायक सिद्ध होगा। आयुर्वेद के अनेक पूर्ववर्ती ऋषियों द्वारा प्रदत्त निदानविषयक सारसूत्रों से अनुस्यूत यह ग्रन्थ स्वस्थ एवं रोगमुक्त समाज के निर्माण में नींव के पत्थर के समान अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों का समग्र दृष्टि से अवलोकन करके आयुर्वेद के प्राचीन शास्त्रों में वर्णित व्याधियों के अतिरिक्त पूर्वशास्त्रों में जो अपर्याप्त रूप से वर्णित हैं और विश्व में वर्तमान में प्राप्यमाण नवीन व्याधियां हैं, उन सबको भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट किया गया है। ग्रन्थ में 500 व्याधियों को 471 व्याधिशीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है, जिसमें 234 प्राचीन व्याधियां हैं, जबकि 237 वर्तमान व्याधियों को नवीन नामों से अभिहित करके वर्णित किया गया है। ग्रन्थ को शरीरसंरचना क्रम से 14 खण्डों में वर्गीकृत किया गया है। सभी खण्डों में व्याधियों को अकारादिक्रम से वर्णित किया गया है। प्रत्येक व्याधि के तीन विभाग हैं-स्वरूपम्, निदानम् और लक्षणम्। ग्रन्थ में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, विशिष्ट उपजाति (वंशस्थ, इन्द्रवंशा), द्रुतविलम्बित, भुजङ्गप्रयात, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, पञ्चचामर, शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा-इन 18 छन्दों का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि ग्रन्थ-परिचय में भी इन्हीं 18 छन्दों को प्रयुक्त किया गया है।

ग्रन्थ के विस्तृत कलेवर और पाठक की सुविधा की दृष्टि से इसे दो भागों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम भाग में प्रथम खण्ड से पञ्चम खण्ड

(व्याधिसंख्या 1-260) रोग वर्णित हैं और ग्रन्थ के द्वितीय भाग में छठे खण्ड से चतुर्दश खण्ड (व्याधिसंख्या 261-471) तक व्याधियां हैं। प्रथम भाग के परिशिष्ट भाग में, द्वितीय भाग में वर्णित की जाने वाली व्याधियों की अनुक्रमणिका जोड़ी गई है, जबकि द्वितीय भाग के परिशिष्ट भाग में प्रथम भाग की अनुक्रमणिका को भी रखा गया है। पाठक की सरलता की दृष्टि से ग्रन्थ में प्रयुक्त सभी नवीन शब्दों की संस्कृतनामावली परिशिष्ट भाग में रखी गई है, जिसमें 400 से भी अधिक नवीन शब्द हैं। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में लगभग 2500 चिकित्सकीय अवस्थाएं उपनिबद्ध भी की गई हैं।

यह भी इस ग्रन्थ की विशेषता है कि सभी 500 व्याधियों को खण्डों के अनुसार श्लोकबद्ध किया गया है, जिसके कारण ग्रन्थ की सभी व्याधियों को स्मरण करने में सरलता होगी। व्याधियों के श्लोकों का लयबद्धता से गायन करके QR CODE की सहायता से समग्र ग्रन्थ के श्लोकों का श्रव्य रूप भी प्रस्तुत किया गया है। अल्पसंस्कृतज्ञ जनों के लिए श्लोक में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ करके काठिन्यनिवारण पहले ही कर दिया गया है। सम्पूर्ण विश्व के लोगों के लिए ग्रन्थ को उपयोगी बनाने के उद्देश्य से असंस्कृतज्ञजनों के ज्ञानार्थ श्लोकों के साथ उनकी फोनेटिक्स और अंग्रेजी में स्वरूप, निदान और लक्षणों को प्रस्तुत करके ग्रन्थ का अंग्रेजी रूपान्तरण भी किया गया है।

सौमित्रेयनिदानम् की प्रमाणिकता व उपादेयता-

सौमित्रेयनिदानम् ग्रन्थ की शास्त्रीयता, प्रासंगिकता, उपादेयता, शुद्धता और प्रामाणिकता आदि के आयुर्वेददृष्ट्या अवलोकन तथा विषयगतसमीक्षा के लिए पतञ्जलिविश्वविद्यालय और केन्द्रीयसंस्कृत-विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के सौजन्य से 7 अगस्त से 8 अगस्त तक द्विदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन करवाया गया, जिसमें संपूर्ण भारतवर्ष से प्रतिष्ठाप्राप्त आयुर्वेद और संस्कृत के लगभग 50 विद्वानों ने अपने विचार व समीक्षात्मक प्रस्तुति दी। सबमें एक बात सामान्य रही कि सौमित्रेयनिदानम् प्रामाणिक और अद्वितीय एक ऐसा ग्रन्थ है, जो चिकित्सा जगत् के लिए अत्यधिक उपयोगी होगा-

1. परमपूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज ने 'सौमित्रेयनिदानम्' ग्रन्थ के विषय में कहा कि यह एक मौलिक कालजयी अनुपम रचना है, अप्रतिम प्रस्तुति है। यह कार्य बहुब बड़ा था। 18 छन्दों में 6821 श्लोकों में जो रचना हुई है, साथ ही हिंदी सहित इंग्लिश भाषा में इसका रूपान्तरण करना और उसको पूरी ऋषि परम्परा के अनुरूप प्रतिबद्धता के साथ सम्पूर्ण विषय को समेटते हुए अभिव्यक्त करना एक चुनौती पूर्ण कार्य था। श्रद्धेय आचार्यश्री और सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली के लिए विशेष

अभिनन्दन होना चाहिए। आज यहां 'सौमित्रेयनिदानम्' का लोकार्पण अपने आप में ऐतिहासिक कार्य है।

2. केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रोफेसर श्रीनिवास बरखेड़ी** ने कहा कि "ग्रन्थ के आविर्भाव से आयुर्वेद शास्त्र के इतिहास में एक ऐतिहासिक नूतन युग का आरम्भ हुआ है। आज इस संस्कृत भूमि पर शास्त्रबीज का वपन हुआ है। इस कृषि में आचार्य बालकृष्ण जी ने अपने अनुभवजल से सेचन किया है। उनके द्वारा एक नव निदानशास्त्र का अंकुर उत्पन्न हो गया है। इसको वृक्ष बनाना, इसका फल प्राप्त करना, पुष्प प्राप्त करना- यह हमारा कार्य है। अष्टाङ्गहृदय के समान यह मौलिक ग्रन्थ भी सहस्त्रों वर्षों तक आयुर्वेद के क्षेत्र में देदीप्यमान रहेगा।" "यह चर्वितचर्वण नहीं है, अपितु नूतन नवीन है।" उनके अनुसार इसमें नूतन शब्दों, धातुओं और नवपरिभाषितों पर शोध के लिये भी पर्याप्त विषयवस्तु देखी गई है।

3. केन्द्रीय आयुर्वैदिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् के महानिदेशक **प्रोफेसर रविनारायण आचार्य** के अनुसार शास्त्र और विज्ञान की तब वैज्ञानिकता नहीं होती जब तक वह समय के अनुसार उन्नत तथा परिष्कृत न हो। उन्होंने आगे कहा कि सौमित्रेयनिदान की यह विशेषता ही उसे सर्वोत्कृष्ट बनाती है कि यह एक मौलिक रचना है और आधुनिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार अनुसन्धानपूर्वक प्रायः सभी नए रोगों का भी इसमें समावेश किया गया है।

4. राष्ट्रीय भारतीय चिकित्सा पद्धति आयोग में आचार एवं पंजीकरण बोर्ड के अध्यक्ष **प्रोफेसर (वैद्य) राकेश शर्मा** के अनुसार यह ग्रन्थ आयुर्वेद के क्षेत्र में मील का पत्थर सिद्ध होगा। यह अपने आप में एक विशेष रचना है और इस बात से भी इसका महत्त्व और बढ़ जाता है कि इसमें प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक पद का अर्थ भी साथ में प्रस्तुत करके आयुर्वेद के पाठकों के लिए शब्दकोश तथा अर्थज्ञान की दिशा में उत्कृष्ट कार्य किया गया है। इसे कश्मीर से कन्याकुमारी तक प्रत्येक आयुर्वेद संस्थान के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिए, जिससे सभी छात्र इसके वैशिष्ट्य से लाभान्वित हो सकें।

5. राष्ट्रीय भारतीय चिकित्सा पद्धति आयोग के अध्यक्ष वैद्य श्री जयन्त देवपुजारी ने कहा कि "सौमित्रेयनिदानम् ग्रन्थ पर आयुर्वेद के सम्बन्ध में दीर्घकाल तक कार्य होता रहेगा। इससे इस दिशा में एक नई परंपरा का आरंभ हुआ है। अनुक्त को उक्त करने का शुभारम्भ श्रद्धेय आचार्य जी के द्वारा किया जा चुका है। पञ्चनिदान व आयुर्वेद की दृष्टि से यह एक परिपूर्ण ग्रन्थ है। उन्होंने आगे परामर्श देते हुए कहा कि पूज्य आचार्य जी को प्राचीन पुस्तक नाड़ीतत्त्वदर्शन के विकृतिविज्ञान विषय पर भी अनुसंधानात्मक कार्य करना चाहिए।"

6. दत्ता मेघे आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय एवं औषधालय नागपुर (महाराष्ट्र) से उपस्थित **प्रोफेसर वैद्य माधव आष्टिकर** ने "ग्रन्थस्य तन्त्रगुणदोष-युक्त्यात्मकम् अध्ययनम्" विषय पर प्रस्तुति देते हुए कहा कि यह शास्त्र स्वयं में एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण कार्य है। उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि सौमित्रेयनिदानम् में वर्णित अपस्मार में वयोऽनुसार प्रेरक आक्षेप, संवेदी आक्षेप आदि भेद बताकर बहुत श्रेष्ठ कार्य किया गया है। आयुर्वेद विज्ञान के सिद्धान्तों का अनुपालन करते हुए अपने विचार व्यक्त करने से यह अनुमत शास्त्र की श्रेणी में आता है। स्वसंज्ञाओं का समायोजन और नवीनपदावली का प्रयोग, अन्वयपूर्वक प्रत्येक पद की अर्थप्रस्तुति आदि से यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है, जो आने वाली अनेक पीढ़ियों का पथप्रदर्शन करता रहेगा। उन्होंने व्याधियों के वर्गीकरण सम्बन्धी परामर्श देते हुए हेतु और लक्षण के मध्य सेतुस्वरूप सम्प्राप्ति की संयोजना का भी परामर्श दिया।

7. देशभगत विश्वविद्यालय पंजाब के कुलपति **डॉ० अभिजित् एच० जोशी** ने ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए कहा मैं इसे आयुर्वेदीय निदान ग्रन्थ की अपेक्षा अथर्ववेद आधारित व्याधिनिदान मानता हूँ। परामर्श देते हुए उन्होंने कहा कि आयुर्वेद के विषय में अथर्ववेद पर भी अनुसंधानात्मक कार्य करवाया जाना चाहिए।

8. केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय श्री सदाशिव परिसर, पुरी ओडीशा के निदेशक **डॉ० बनमाली बिस्वाल** ने कहा कि ग्रन्थ की भाषा और उसमें शार्दूलविक्रीडित जैसे विभिन्न छंदों का प्रयोग करके एक श्रेष्ठ कार्य को प्रस्तुत किया गया है। नवीन संस्कृत पदावली का प्रयोग और परिशिष्ट भाग में उसको दर्शाकर शास्त्रगत काठिन्य का स्वयं परिहार प्रस्तुत करके श्रेयस्कर कार्य किया गया है।

9. अखिल भारतीय आयुर्वेद संस्थान नई दिल्ली के रोगनिदान विभाग के सह-प्राध्यापक **डॉ० सन्दीप सिंह तिवारी** ने कहा कि सौमित्रेयनिदानम् को मैंने जितना देखा है, इसमें ग्रन्थ के श्लोकों का गायन करके QR CODE के रूप में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI) का प्रशंसनीय प्रयोग किया गया है, जो आयुर्वेद के क्षेत्र में अपूर्व प्रयास है। आयुर्वेद की साधना में लगे हुए जनों के लिए यह विधा अतीव उपयोगी सिद्ध होगी।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भारतवर्ष से पतञ्जलि विश्वविद्यालय के सभागार में उपस्थित होकर आयुर्वेद और संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ 35 अन्य विद्वानों ने भी सौमित्रेयनिदानम् ग्रन्थ के विषय में अपनी-अपनी समीक्षापरक प्रस्तुति दी, जिसमें एक बात सामान्य रही कि अर्वाचीन में इस बृहद्ग्रन्थ की सर्जना करके आयुर्वेद जगत् के साथ-साथ समग्र विश्व का उपकार किया है। सहस्त्रों वर्षों तक यह आयुर्वेद

के पाठकों और जिज्ञासुओं को अपने प्रकाश से लाभान्वित करता रहेगा। ग्रन्थकार का यह कथन-

आयुष्यवेदस्य कृतेश्च तस्याः सद्वर्तमाने च भविष्यकाले।
अध्यापनं चाध्ययनं चिकित्साक्रान्तिं प्रकुर्युर्जगतीह नूनम्।। (इन्द्र)

"सौमित्रेयनिदानम् आयुर्वेद के क्षेत्र में वर्तमान में तथा आने वाले अनेक वर्षों तक पठन-पाठन तथा इससे चिकित्सा हेतु आयुर्वेद के जगत् में एक नई क्रान्ति को लाने वाला रहेगा"।

वस्तुतः ग्रन्थकार का यह कथन सटीक एवं यथार्थता से परिपूर्ण एवं नितान्त चरितार्थ है। निःसन्देह यह एक परिपूर्ण और अनुपम आयुर्वेदीय निदान शास्त्र है। 'वैदिक वाग् ज्योति' की ओर से आचार्य बालकृष्ण जी को इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना करने पर हार्दिक बधाई और शुभकामनाऐं। आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह कृति लोक हित में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनायेगी और भारतीय ज्ञान परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देगी।

-सम्पादक

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (1-8) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

सांख्य के प्रकृतिस्वातन्त्र्यवाद की समीक्षा

-डॉ. स्वामी प्रज्ञानदेव (प्रीतम)*

सारांश- परम कारुणिक आदि विद्वान् महर्षि कपिल प्रणीत सांख्यदर्शन जिसका तत्त्व निर्धारण में कोई सानी नहीं है, जिसके अनुसार इस जगत् के मूल में दो तत्त्व हैं (1) जड़ एवं (2) चेतन। समस्त जगत् का मूल उपादानकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है जो अचेतन एवं परिणामिनी है। चेतन (जीव) ज्ञानस्वरूप है, समस्त कर्मों का साक्षी होता हुआ अपरिणामी है। जगत् निर्माण में चेतन उपादान कारण के रूप में अस्वीकृत है, कारण यह है कि परिणामी व त्रिगुणात्मक जगत् का कारण अपरिणामी निर्गुण पुरुष नहीं हो सकता। इसलिए प्रकृति को ही उपादान कारण के रूप में सांख्य की स्वीकृति है। स्वार्थ से रहित प्रकृति जीवों के भोगापवर्ग के लिए जगत् के निर्माण में प्रवृत्त होती है।

अब यहां पर प्रश्न यह उठता है कि अचेतन प्रकृति जीवों के लिए जगद्रूप में परिणित कैसे हो सकती है? उसमें न ही ज्ञानशक्ति है और न ही क्रिया-शक्ति। फिर अचेतन प्रकृति जगद्रूप में प्रवृत्त (क्रियाशील) कैसे हो सकती है?

इस संदर्भ में अधिकांश विद्वानों का कहना है कि सांख्य के अनुसार प्रकृति स्वतः ही होती है, चेतन (जीवों) के निमित्त ही होती है परन्तु चेतन प्रेरक नहीं होता है। ईश्वर रूपी चेतन के अधिष्ठातृत्व को भी सांख्यकार ने सीधे तौर पर निषेध कर दिया है। अतएव सांख्य के अनुसार चेतननिरपेक्ष प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होती है। जगत् के प्रति प्रकृति का ही अधिष्ठातृत्व है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में उपरोक्त मत का निराकरण करके इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि सांख्यकार ईश्वर रूपी परमचेतन के सहयोग से ही प्रकृति की प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं न कि स्वतः। और साथ ही प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति एवं ईश्वर के अधिष्ठातृत्व के निषेध का भी प्रमाणपूर्वक सामञ्जस्य स्थापित किया गया है।

विषय प्रवेश- सांख्य सृष्टि-रचना विषयक वर्णन में प्रकृतिस्वातंत्र्य का प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह है कि अचेतन प्रकृति स्वतन्त्र रूप से पुरुष (जीवों)

---

* सहायक-प्राध्यापक (दर्शन विभाग), पतञ्जलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

के भोगापवर्ग के लिए जगत् रूप में परिणित होती है, उसे जगद् निर्माण में किसी अन्य के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि में सांख्यकारिका का वचन प्रमाण है–

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥[1]

अर्थात् जैसे जड़ होने पर भी दूध की प्रवृत्ति बछड़े के शरीर को पुष्ट करने के निमित्त होती है। ऐसे ही यद्यपि प्रधान (प्रकृति) भी जड़ है किन्तु उसकी प्रवृत्ति भी पुरुष के मोक्ष के निमित्त से होती है।

प्रस्तुत कारिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जड़ प्रकृति की जगत् रूप में प्रवृत्ति सम्भव है। उपरोक्त कारिकाकार के वचन का मूल स्वयं महर्षि कपिल का वचन ही है यथा–

अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।[2]

अर्थात् अचेतन होते हुए भी प्रधान की जगत् के रूप में प्रवृति हो जाती है जैसे दूध की दधि के रूप में प्रवृत्ति स्वतः हो जाता है। ऐसे ही प्रकृति (प्रधान) की प्रवृत्ति भी स्वतः जगत् के रूप में सम्भव है। इस तथ्य को पुष्ट करते हुए महर्षि आगे कहते हैं –

कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः।[3]

अर्थात् काल आदि के अनुसार जिस प्रकार ऋतु परिवर्तन रूप कर्म स्वतः होता रहता है, ठीक प्रकार की प्रकृति की प्रवृत्ति भी स्वतः होती है आगे एक और दृष्टान्त के द्वारा महर्षि कपिल सिद्ध करते हैं–

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत्।[4]

अर्थात् जैसे बुद्धिमान उत्तम सेवक स्वभाव से ही अपने स्वामी की सेवा में सदा तत्पर रहता है, उसे किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नही होती है। ठीक इसी प्रकार अपने स्वार्थ से रहित प्रधान की प्रवृत्ति भी जीवों के लिए स्वाभाविक रूप से बिना किसी के प्रेरणा के होती है।

अब यहां प्रश्न उठता है कि यदि प्रकृति की प्रवृत्ति जीवों के भोगापर्वग के लिए ही होती है तो सभी जीवों को समान रूप से भोग व अपवर्ग की सिद्धि होनी

1. सां. का. 57
2. सां.द. 3.59
3. सां.द. 3.60
4. सां.द. 3.61

चाहिए परन्तु ऐसा तो नहीं होता है। तब महर्षि कहते हैं-

कर्माकृष्टेर्वानादितः।[5]

अर्थात् अनादिकाल से जीवों के विचित्र कर्मों के प्रभाव से प्रकृति जगद् रूप में प्रवृत्त होती है। इस कारण से एक ही प्रकृति से उत्पन्न जगत् में सबके सुख-दुःख रूप भोग एक समान नहीं होता है। तथा सारे जीव एक साथ मुक्त भी नहीं हो पाते हैं। इसी को महर्षि ने -**कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्।**[6] इस सूत्र में भी स्पष्ट किया है। तथा **कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्।**[7] इस सूत्र में भी वही भाव प्रकट किया है।

कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति की प्रवृत्ति में 'कर्म' को भले ही निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया गया हो परन्तु किसी भिन्न ईश्वररूपी चेतन को प्रेरक या अधिष्ठाता के रूप में स्वीकर नहीं किया है-ऐसा प्रतीत होता है।

करणों (इन्द्रियों) के प्रवृत्ति के प्रसंग में भी ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्यकार स्वतन्त्र रूप से बिना किसी अन्य प्रेरक के स्वतः प्रवृत्ति मानते हैं। जैसा कि महर्षि ने कहा है-

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात्।[8]

अर्थात् अदृष्ट-कर्माशय के प्रभाव से करणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए होती है। इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार विज्ञानाभिक्षु लिखते हैं-

प्रधानप्रवृत्तिवत् पुरुषार्थं करणोद्भवः, करणानां प्रवृत्तिरपि पुरुषस्यादृष्टाभिव्यक्तेरेव भवतीत्यर्थः।[9]

आगे प्रधान या करणों की स्वतः प्रवृत्ति में दृष्टान्त देते हुए सांख्यकार कहते हैं -

धेनुवद्वत्साय (2.37)।[10]

अर्थात् जैसे बछड़े के लिए धेनु बिना किसी दूसरे की अपेक्षा से स्वतन्त्र रूप से दूध को स्रावित करती है, इसी प्रकार पुरुष के लिए करणों की प्रवृत्ति भी स्वतः

---

5. सां.द. 3.62
6. सां.द. 3.51
7. सां.द. 6.41
8. सां.द. 2.36
9. सां.द. विज्ञानभिक्षुभाष्य 2.36
10. सां.द. 2.37

हुआ करती है। सांख्यकारिका में भी इसी भाव को प्रकट किया है-

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूत हेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्॥[11]

उपरोक्त प्रसंगों से भी प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होती है ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। केवल सांख्य की बात नहीं है अपितु सांख्य के समानतन्त्र योग से भी यही प्रतीत होता है। यथा-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद्।[12]

अर्थात् जीवों के अपने धर्मादि रूपी निमित्त प्रकृतियों (देहेन्द्रियों के उपादान कारणों) के प्रेरक नहीं होते हैं अपितु केवल निमित्तमात्र होते हैं। जैसे किसान खेत की सिंचाई के लिए जल को धक्का मार-मारकर पौधों के जड़ों में नहीं ले जाता बल्कि वह आवरण स्वरूप मेंढ़ को तोड़ देता है। उस मेंढ़ के टूटने पर जल अपने आप स्वतः ही क्यारियों में फैल जाता है। इसी प्रकार धर्मरूपी निमित्त से प्रकृति स्वतः ही महदादि के रूप में परिणत हो जाती है; अन्य ईश्वर इसके प्रेरक या अधिष्ठाता नहीं है। जैसा कि पांचवे अध्याय के प्रारम्भ में सांख्यकार ने स्पष्टरूप से निषेध किया है-

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।[13]

अर्थात् जीवों के सुख-दुःखादि की उत्पत्ति ईश्वराधीन न होकर उनके कर्मों से फल की सिद्धि होती है। यहां पर भी ईश्वर से प्रेरित (नियंत्रित) न होना प्रतीत होता है।

समीक्षा- उपरोक्त प्रकृतिस्वातंत्र्यवाद का यह बिल्कुल तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि ब्रह्म या ईश्वर रूपी किसी चेतननिरपेक्ष प्रकृति जगद्रूप में परिणत होती है। अन्यथा सांख्य वेदविरुद्ध नास्तिक सिद्ध हो जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं है सांख्य एक वैदिक आस्तिकदर्शन है। ऐसे में हमें सांख्य द्वारा दिये गए दृष्टांतों पर विचार करना पड़ेगा। सांख्योक्त दृष्टांत को परिभाषित करना अत्यावश्यक हैं। दृष्टांत के विषय में न्यायकार लिखते हैं -

लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।[14]

---

11. सां. का. 31
12. यो.द. 4.3
13. सां.द.-5.2
14. न्याय.द. 1.1.25

अर्थात् सामान्य लौकिक व्यक्ति एवं परीक्षक विद्वान् जिस वस्तु को एक ही रूप में देखते एवं जानते हो एक वस्तु का दृष्टान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। न्यायकार के इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए सांख्योक्त 'धेनु' रूपी दृष्टांत पर दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि आखिरकार 'धेनु' रूपी दृष्टान्त का वास्तविक अर्थ चेतनाधिष्ट (जीवित) पिण्ड विशेष ही है न कि मरी हुई गाय। चेतन से अनधिष्ठित मरी हुई गाय से कभी भी बछड़े के लिए दुग्ध का स्राव सम्भव नहीं है। अतएव जिस प्रकार से चेतन से युक्त गोपिण्ड स्वतन्त्र रूप से दुग्ध का स्राव करती है ऐसे ही चेतन से युक्त प्रकृति ही स्वतन्त्र रूप से जगत् का निर्माण करती है ऐसा आशय है।

अब यहां प्रश्न यह उठ सकता है कि जब चेतन से युक्त ही है यानि चेतन सापेक्ष ही प्रकृति की प्रवृत्ति है तब स्वतंत्र या स्वत: कहना सूत्रकार का व्यर्थ हो जाएगा।

इस पर हमारा यह कहना है कि ब्रह्म या ईश्वर रूपी परमचेतन के अतिरिक्त अन्य किसी अपेक्षा किए ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है ऐसा भाव है यदि ऐसा नहीं कहेंगे तो सांख्य के ही प्रकृति को परतंत्र कहने वाले अनेक वचनों से विरोध होगा। यथा- **प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्।**[15]

बन्धन के कारणों के विचार के प्रसंग में इस सूत्र के माध्यम से महर्षि कपिल ने प्रकृति को परतन्त्र कहा है न कि स्वतन्त्र।

उपरोक्त सूत्रार्थ पर कोई यह कहें कि प्रस्तुत सूत्र में प्रकृति को संयोगपारतन्त्र्य कहा है न कि चेतनपारतन्त्र्य[16]।

तब हमारा यह कहना है कि संयोग बिना किसी चेतन के प्रेरणा से सम्भव नहीं हो सकता। प्रकृति अचेतन होने से चेतनरिपेक्ष स्वत: पुरुष के साथ संयुक्त नहीं हो सकती है। चेतन के सहयोग से ही अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति होती है यह तथ्य हमने पूर्व में सांख्यकार के 'धेनुवद्वत्साय' सूत्र के दृष्टान्त में स्पष्ट कर दिया है।

इसके अतिरिक्त **अकार्यत्वेऽपि तद्योग: पारवश्यात्।**[17] (3.55) सूत्र में भी सांख्यकार ने प्रकृति को परवशा कहा है। इसके आगे तो महर्षि ने स्पष्ट रूप से चेतन ईश्वर को समस्त जगत् का कर्त्ता स्वीकार किया है। **स हि सर्ववित्**

---

15. सां.द. 1.18
16. यतस्तस्या अपि बन्धकत्वे 'संयोगपारतन्त्रयमुत्तरत्र' वक्ष्यमाणमस्ति। (विज्ञानभिक्षुभाष्य 1. 18)
17. सां.द. 2.55

सर्वकर्त्ता।[18] (3.56), **ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा।**[19] (3.57) इन दो सूत्रों में सांख्यकार ने स्पष्ट रूप से ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य है कि चेतन ईश्वर के सहयोग से प्रकृति जगद्रूप में परिणत होती है।

शंका-उपरोक्त दो सूत्रों में प्रकृतिलीनों को ईश्वर कहा गया है-ऐसा भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी कहा है। अतएव परमचेतन ब्रह्म सदृश ईश्वर की स्वीकार्यता यहां पर नहीं है। इसलिए ईश्वर सापेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति होती है- यह तथ्य सिद्ध नहीं होता है।

समाधान-यही बात नहीं है, भाष्यकार ने उपरोक्त दो सूत्रों की दूसरी प्रकार की भी व्याख्या की अनुमति स्वयं दी है। यथा- **सूत्रद्वयमिदं व्याख्याय पारवश्यमपि प्रतिपादयति 'स हीति' सूत्रेण। स हि परः पुरुषसामान्यं सर्वज्ञानशक्तिमत् सर्वकर्तृताशक्तिमच्च।**[20] (भा.3.57) इस प्रकार से सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों के कथनों से प्रकृति का पारतन्त्र्य सिद्ध होता, अर्थात् सर्वज्ञानशक्ति एवं सर्वक्रियाशक्ति से युक्त परमचेतन ईश्वर के ही प्रेरणा से प्रकृति जगद्रूप में प्रवृत्त होती है। यह तथ्य प्रमाणित होता है।

निष्कर्ष- सांख्यकार के अनुसार ईश्वर प्रकृति का प्रेरक सन्निधिमात्र से होता है। न कि सदैव प्रकृति को धक्का मार-मारकर प्रेरित करता है। कहने का तात्पर्य यह कि ईश्वर की सन्निधि (जगदुत्पत्ति विषयक संकल्प) मात्र से प्रकृति अपने आप महदादि रूप में परिणत होती है। ईश्वर को बार-बार उसे प्रेरणा-धक्का नहीं देना पड़ता है। जैसा कि सांख्यकार ने कहा है -

स्वाभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत्।[21]

जैसे एक उत्तम सेवक स्वभाव से ही अपने स्वामी की सेवा में तत्पर रहता है। स्वामी को बार-बार कहना नहीं पड़ता है वह उसके भावों को बिना कहे ही जानकर सारे कार्यों को सम्पादित करता है ऐसे ही प्रकृति भी करती है। अन्यत्र भी कहा है-

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।[22]

जैसे अयस्कांतमणि (चुंबक) के उपस्थितमात्र से लोहा प्रवृत्त होता है वैसे ही चेतन के सन्निधिमात्र से प्रकृति स्वतः ही प्रवृत्त होती है। चेतन जो निष्क्रिय एवं

---

18. सां.द. 2.56
19. सां.द. 2.57
20. सां.द. विज्ञानभिक्षुभाष्य 3.57
21. सां.द. 3.61
22. सां.द. 1.96

अकर्त्ता होता है। उसका तो उपस्थितिमात्र ही प्रकृति की प्रवृत्ति में पर्याप्त कारण है। जैसे राजा के अपने राज्य में भ्रमण के संकल्पमात्र से सारे कार्य उसके बिना कहे ही स्वत: होने लगते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के सन्निधिमात्र से प्रकृति के विषय में भी समझना चाहिए।

शंका-यदि ऐसा है तो यहां पर प्रश्न यह उठ सकता है कि सांख्यकार ने स्पष्टरूप से ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का निषेध क्यों किया है?

समाधान-इसका समाधान यह है कि सांख्यकार को जगत् के निर्माण में ईश्वर का सीधा (साक्षात्) कारणत्व स्वीकार्य नहीं है अपितु जीवों के अपने कर्मों के निमित्त से प्रकृति का ही साक्षात् अधिष्ठातृत्व स्वीकार्य है। उनके ऐसा कहने के पीछे एक गहरा रहस्य है जिसको ब्रह्मसूत्रकार ने प्रकट किया है।[23]

यदि ईश्वर का सीधा-सीधा जगत् के निर्माण में अधिष्ठातृत्व स्वीकार करेंगे तो जगत् में दिखाई देने वाले दु:खी प्राणियों के दु:खों का उत्तरदायी भी उन्हीं को मानना पड़ेगा। जिसके कारण ईश्वर में दो दोष उपस्थित होंगे। (1) ईश्वर विषम दृष्टि वाला है तथा (2) ईश्वर निर्दयी है। इसलिए महर्षि सांख्यकार ने साक्षात् ईश्वर को अधिष्ठातृत्व न मानकर प्रकृति का ही अधिष्ठातृत्व स्वीकार किया है।

ऐसा भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि जीवों के कर्मों को निमित्त बनाकर प्रकृति एवं परमेश्वर दोनों का अधिष्ठातृत्व मानना चाहिए। तब महर्षि ने केवल प्रकृति को ही क्यों स्वीकार किया है?

इसका समाधान यह है कि दर्शन शास्त्रों में गौरव एवं लाघव पर बहुत ध्यान रखा जाता है। दो का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करने में गौरव (दोष) होगा जबकि एक को स्वीकार करने में लाघव होगा। तात्पर्य यह है कि जब एक कारण को ही स्वीकार करके काम चलाया जा सकता है तब दो को स्वीकार करके गौरव रूपी दोष क्यों करना और साथ ही साथ ईश्वर में भी दोषारोपण का निमित्त बनने से अच्छा यही है कि केवल प्रकृति को ही स्वीकार किया जाए। सांख्यकार ने इस प्रकार स्वीकार करके जगद् के विचित्रता का समाधान भी कर दिया तथा ईश्वर को भी दोषी होने से बचा लिया। यह उनके व्यापक दृष्टिकोण का ही परिणाम है। उपरोक्त प्रकार के वर्णनों से प्रकृति के स्वातन्त्र्य एवं ईश्वर के प्रेरकत्व दोनों का सामञ्जस्य बन जाता है। इस प्रकार ईश्वर के सन्निधिमात्र-उपस्थितिमात्र से प्रकृति की प्रवृत्ति होती है न की ईश्वरनिरपेक्ष-यह तथ्य सिद्ध होता है।

---

23. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति। (वे.द.2.1.34)

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

1. योगदर्शन, स्वामीसत्यपति परिव्राजक, वानप्रस्थ साधक आश्रम, चतुर्थ संस्करण 2012
2. पातञ्जल योग प्रदीप, स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर, आठवां संस्करण वि.सं., 2045
3. सांख्य दर्शनम्, विद्योदयभाष्य आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, 2014
4. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण-संपादक आचार्य जगन्नाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-110007
5. सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन।
6. सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु, चौखम्भा संस्कृत संस्थान।
7. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य, महर्षि गौतम, आचार्य वात्स्यायन, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, वि.सं.-2071
8. वेदान्तदर्शनम् स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, माता तुलसादेवी हुकुमचन्द्र धर्मार्थ आर्ष साहित्य प्रकाशन, हिसार (हरियाणा)।
9. वेदान्तदर्शन, सं.पं. केदार नाथ त्रिपाठी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान ऑफिस, वाराणसी, 2017
10. पातंजल योग प्रदीप श्रीस्वामी ओमानन्द तीर्थ गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2045 आठवाँ संस्करण।
11. पतंजलि योगदर्शन उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन, संस्करण- 2015

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (9-14) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में वैदिक दृष्टिकोण

-डॉ. प्रशान्त सरकार*

'मूल्य' शब्द वस्तुतः नीति शास्त्र के 'वैल्यू' का पर्यायवाची शब्द माना जाता है। अंग्रेजी में इसे value कहा गया है, जो लैटिन के 'वलेरी' (Valarie) शब्द से बना है और जिसका अर्थ है अच्छा। यहाँ पर 'मूल्य' शब्द संस्कृत के मूल धातु में 'यत्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है, जिसका साधारण अर्थ है कीमत। मूल्य का निर्धारण विषय के अनुरूप निश्चित होता है, चाहे वह अर्थशास्त्र का हो, मानवीय का हो या फिर साहित्य का हो। अर्थशास्त्र के आधार पर मूल्य का निर्धारण price से किया जाता है, जबकि साहित्य-मूल्य मानवीय-मूल्यों के अर्थ में प्रयोग होता है। सार्वभौम मानवीय मूल्यों से तात्पर्य उन विशिष्ट मानवीय नैतिक कर्तव्यों व दायित्व से हैं जिनका महत्व प्रायः सभी देशों, संस्कृतियों एवं कालों में होता हैं। वेद का ज्ञान ईश्वरीय कृत ज्ञान होने के कारण सब सत्य विद्याओं का ज्ञान है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक स्वीकार करते हुए आर्य समाज के तीसरे नियम में लिखा है **"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"**[1] यह आवश्यक भी है कि आज संसार को सदा जिसकी आवश्यकता है, आवश्यकता थी और आवश्यकता होगी वह वेद विद्या (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) मानव मात्र के लिए कल्याणकारी हैं। परम पिता परमात्मा का वेद में यह उपदेश हैं-

यथेमांवाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः।
ब्रह्म॒राज॒न्या॒भ्यां शूद्रा॑य॒ चार्य्या॑य च॒ स्वाय॒ चार॑णाय च।
प्रि॒योदे॒वाना॑ं दक्षिणायै॒दा॒तु॒रि॒हभू॑यासम॒यं॑
मे॒ काम॒ः समृ॑ध्यता॒मुप॑ मा॒दो न॑मतु।।[2]

अर्थात् ईश्वर का उपदेश हैं कि हे मनुष्य! जैसे मैं इस कल्याणकारी वेद ज्ञान का समस्त मनुष्यमात्र के लिए, ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए, वैश्य के लिए, शूद्र के

---

* सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, कॉर्सियांग महाविद्यालय, दार्जिलिंग, पश्चिम बंगाल।

1. आर्य समाज के दस नियमों में तीसरा नियम
2. यजुर्वेद- 26/ 2

लिए, स्वजन के लिए और परजन के लिए, प्रियजनों के लिए और अप्रियजनों के लिए एवं सब लोगों के कल्याण के लिए सब प्रकार से उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी सबके कल्याण के लिए अच्छी प्रकार से उपदेश किया करो। ऐसे न जाने कितने ही मानवीय मूल्यों पर आधारित उपदेश परमपिता परमात्मा ने मनुष्य को मनुष्य बनने का उपदेश दिया है। परमात्मा का यह भी उपदेश हैं

इन्द्रं॑ वर्धन्तोअ॒प्तुरः॑ कृ॒ण्वन्तो॒ विश्व॒मार्य॑म॒पघ्न॑न्तो॒ अरा॑व्णः।[3]

अर्थात् ज्ञानी, तपस्वी महापुरुष सदा सर्वदा इन्द्र-परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हुए स्वयं तो श्रेष्ठ बने साथ-साथ संसार के लोगों को भी श्रेष्ठ बनावें अर्थात् विश्व को आर्य (भद्र) बनाते हुए कृपण, कंजूस को दूर भगाते हुए आगे बढ़ते जाए और सदा ही उन्नति की ओर अग्रसर होते रहें। इस तरह 'मनुर्भव' अर्थात् मनुष्य बनने का उपदेश परम पिता परमात्मा ने मनुष्य मात्र के लिए मनुष्य बनने के लिए दिया है और यह परंपरा सत्य सनातन संस्कृति की कल्याणकारी भावना है। इससे आगे परमात्मा का उपदेश है-

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैवकुटुम्बकम्॥[4]

अर्थात वसुधा को कुटुम्ब मानो, समस्त संसार को कुटुम्ब की नजर से देखो। वसुधा में कुटुम्ब का भाव होने पर, सारे कुटुम्ब पर प्यार का भाव होगा। कुटुम्ब में समता का साम्राज्य स्थापित होता है, विषमता का नहीं। समता स्थिर रखने के लिए स्नेही का व्यवहार होना अति आवश्यक है, तभी तो वेद में यह भी उपदेश मिलता है-

दृ॒ते दृ॒ꣳह मा मित्रस्य॒ मा॒ चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णिभू॒तानि॒ समीक्षन्ताम्।
मि॒त्रस्याहंचक्षु॑षा॒ सर्वा॑णिभू॒तानि॒ समीक्षे। मित्रस्य॒ चक्षु॑षा॒ समीक्षामहे॥[5]

अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति यथोचित स्नेह और मित्र की दृष्टि से निहारते हैं वैसे ही हम सभी मानव उसी भाव का व्यवहार करें, सब प्राणियों को मित्र की, स्नेह और विश्वास की आँख से, सहृदय दृष्टि से देखें। यहाँ पर वेद का उपदेश सिर्फ मनुष्य सीमा तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि उससे भी आगे निकलकर यह उपदेश देता है कि प्यार का अधिकारी सिर्फ मनुष्य मात्र ही नहीं है, परन्तु सब प्राणी इसके समान अधिकारी है। यह उचित भी है, क्योंकि

---

3. ऋग्वेद- 9/63/5
4. हितोपदेश- 1/69
5. यजुर्वेद- 36/ 18

'मनुष्य' शब्द का अर्थ है-**"मत्वाकर्माणि सीव्यति"**[6] अर्थात् जो विचार कर कर्म करे, अंधाधुंध कर्म न करे। कर्म करने से पूर्व जो भली प्रकार विचार करे, कि मेरे इस कर्म का क्या फल होगा? किस-किस पर इसका क्या-क्या प्रभाव होगा? यह कर्म भूतों के दु:ख या प्राणियों की पीड़ा का कारण तो नहीं बनेगा? इसीलिए मनुष्य में मानवता की गुणों का विकास होना आवश्यक है और मानव में इन गुणों की वृद्धि सिर्फ संस्कार से ही सम्भव हो सकता है। इसीलिए कहा भी जाता है कि- **"जन्मना जायतेशूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।"**[7] अर्थात् जन्म से सब शूद्र होते हैं और संस्कार द्वारा द्विज बनते हैं। यह सही भी है कि जो जैसा कर्म करेगा उसका वैसा ही परिचय अर्थात् वर्ण होगा और सनातन संस्कृति का वर्ण विषय का नियम भी यह कि जो जैसा कर्म करेगा वैसा ही उसका वर्ण अर्थात् परिचय होगा। जन्म से सब समान हैं। इसीलिए सनातन संस्कृति में सोलह संस्कार की बातें मानव जीवन में आवश्यक स्वीकार की गयी है। हमें संस्कारित कराते हुए यज्ञ आदि प्रार्थना में सिखाया जाता हैं कि-

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।।[8]

हे देव! आप हमारे सब प्रकार के दुर्गुण, दुर्व्यसन दुराचार, दुष्कर्म, अपकर्म और उनके आधार पर होनेवाले कष्ट-क्लेशों को दूर कर दीजिए और जो कल्याणकारी भद्र भाव हैं, जो सुखकारी और कल्याणकारी गुण-कर्म-स्वभाव हैं वह सब हमें प्राप्त होवें। इस प्रकार वेद में मनुष्य के अंदर किस प्रकार दिव्य भव्य गुणों से भरने की भावना मिलती हैं, जो मानवता की, उसकी मूल्यों की रक्षा करने में सहायक सिद्ध होगी। वेद में यह भी कहा गया हैं कि सूर्य और चंद्रमा जैसे कल्याणकारी उत्तम मार्ग पर चलते हुए, अपने गति पथ पर चलते रहते हैं और सब को समान रूप से, बिना भेद भाव के प्रकाश प्रदान करते है। परम पिता परमात्मा का यह उपदेश है कि हम भी सूर्य और चन्द्रमा की तरह निरंतर कर्म करते हुए कल्याणकारी मार्ग पर चले। इसके लिए पुनः पुनः दानी, अहिंसक और ज्ञानी पुरुषों की सदा संगति किया करें-

स्वस्तिपन्थामनु चरेमसूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नताजानतासंगमेमहि।।[9]

---

6. निरुक्त- 3/7
7. स्कंद पुराण, नगर कांड, अध्याय-239/31
8. ऋग्वेद- 5/82/5
9. ऋग्वेद- 5/51/15

वेद भारतीय संस्कृति के आधार ग्रंथ हैं। इसके साथ स्मृतियाँ भी भारतीय संस्कृति के आधार व प्रामाणिक ग्रंथ हैं महर्षि मनु के अनुसार श्रुति वेद हैं और स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। दोनों से ही धर्म का संदेश मिलता है- **"श्रुतिस्तुवेदोविज्ञेयोधर्मशास्त्रंतु वै स्मृतिः।"**[10] इसके साथ **"वेदोऽखिलोधर्ममूलम्"**[11] अर्थात् वेद ही धर्म का मूल है। और धर्म के प्रति जिज्ञासा रखने वाले लोगों के लिए वेद अर्थात् श्रुति ही सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है अर्थात् **"प्रमाणं परमं श्रुतिः।"**[12] कहने का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य धर्म का पालन करता है, उसे इस संसार में शांति, यश, उन्नति और परलोक में अनुपम सुख मिलता है। महाकवि तुलसीदास ने 'श्रीरामचरितमानस' में इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से कहा हैं-**"सत्य मूल सब सुकृत सुहाए"**[13] अर्थात् सभी प्रकार के सुंदर कृत्यों का मूलाधार सत्य ही है।

वेद में जिन तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन है, उनका ही स्मृतियों में विस्तृत वर्णन हैं। स्मृति-ग्रंथ मूलतः भारतीय संस्कृति की आचार-संहिताएं हैं। ये हमें अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञानता से ज्ञान की ओर, अवनति से उन्नति की ओर, पतन से उत्थान की ओर, संकोच से विकास की ओर ले जाती हैं। इनमें मनुष्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य, आचार-अनाचार, शिक्षा-अशिक्षा, व्यवहार-नीति, कर्म-विज्ञान, सांस्कृतिक जीवन, ग्राह्य-अग्राह्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य एवं दण्ड व्यवस्था का विशद् वर्णन मिलता है। इसीलिए महाकवि कालिदास ने कहा है- **"श्रुतेरिवार्थंस्मृतिरन्वगच्छत्।"**[14]

दूसरे प्राणियों के प्रति स्नेह-प्रेम, आत्मीयता एवं समानता का बोध रखना भी एक सार्वभौम मानवीय मूल्य है। प्रेम की महत्ता सभी संस्कृतियों एवं सभ्यताओं में प्रतिष्ठित है। प्रेम के कई रूप हैं- (1) ईश्वर के प्रति प्रेम को भक्ति कहते हैं,(2) श्रेष्ठ व गुरु जनों के प्रति प्रेम को श्रद्धा, (3) समान लोगों के प्रति प्रेम को मैत्री, (4) छोटों के प्रति प्रेम को वात्सल्य कहते हैं एवं (5) प्रकृति के प्रति प्रेम को प्रकृति-प्रेम कहते हैं। प्रेम के इन पांचों रूपों की सम्यक् प्रतिष्ठा एवं संदेश वेद में है और इसके अनेकों उदाहरण हैं।

वेद सत्य (ऋत) की भावना, आशावाद की भावना, स्नेह और सद्भावना, पवित्रता की भावना, सभी के कल्याण की भावना, परस्पर प्रेम और सौहार्द की

---

10. मनु. - 2/10
11. मनु. -2/6
12. मनु. - 2/13
13. श्री रामचरितमानस, गीतप्रेस, गोरखपुर, अयोध्याकाण्ड, चौपाई-3, पृष्ठ-329
14. रघुवंश - 2/2

भावना, सर्व जन हिताय और सर्व जन सुखाय की भावना तथा आत्मविश्वास की भावना से परिपूर्ण प्रेरक तत्त्व तथा सूर्य प्रभा समान प्रेरक एवं जीवनदायी संदेश से ओतप्रोत हैं।

"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"[15] यह वसुमती एक नीड़ यानी कुटुम्ब, एक परिवार के समान हो जाये अर्थात् यह सम्पूर्ण संसार विश्वबंधुत्व की भावना से परिपूर्ण हो जाये। और हमारा तन-मन तथा संकल्प कल्याणयुक्त शुभ हों **"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।"**[16] वेद मनुष्य मात्र के लिए,मानव जाति के कल्याण हेतु एवं सार्वभौम मानवीय मूल्यों की रक्षा करते हैं। समस्त संसार चाहे वह पृथ्वी लोक हो, द्युलोक हो, चाहे अंतरिक्ष लोक हो वेद में सभी स्थानों पर शांति का संदेश विद्यमान है।

पृथिवीशान्तिरन्तरिक्षंशान्तिद्यौः शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिवनस्पतयः
शान्तिर्विश्वेमेदेवाःशान्ति सर्वे मेदेवाः
शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः।
ताभिः शान्तिभिः सर्वं शान्तिभिः
शर्मयामोऽहंयदिहघोरंयदिहपापंतच्छांतं
तच्छिदंसर्वमेवशर्मस्तु नः।।[17]

अर्थात् हमारे लिए भूमि शान्तिदायक हों, मध्यलोकशान्तिदायक हों, प्रकाशमान सूर्य शान्तिदायक हों, जल शान्तिदायक हों, अन्न व सोमलता आदि शान्तिदायक हों, वनस्पतियाँ शान्तिदायक हों, सब विद्वान लोग मेरे लिए शान्तिदायक हों, सब उत्तम पदार्थ मेरे लिए शान्तिदायक हों शांतियों के साथ शांति हों, उन शांतियों से सब शांतियों से हम शांति पावें, जो कुछ यहाँ पर घोर हो, जो कुछ यहाँ पर क्रूर हो, जो कुछ यहाँ पर पाप हो, वह शान्ति युक्त, वह कल्याणकारक हों, सब कुछ हमारे लिए शान्तिदायक हों। इस प्रकार वेद का जो संदेश मनुष्य मात्र के लिए हैं। इसका मूल उद्देश्य है मनुष्य को सचमुच मनुष्य बनाना। मनुष्य में मनुष्यत्व या मानवीय मूल्यों की स्थापना करना। जब तक मनुष्य में मानवता तथा विश्व-मानवता की भावना नहीं जागेगी तब तक मनुष्य में हिंसा-द्वेष-कलह लगा ही रहेगा। मनुष्य यदि सचमुच मनुष्य बन जाये, तो संसार से सारा उपद्रव दूर हो जाएगा। वेद के सार्वभौम सत्य

---

15. यजुर्वेद- 32/8
16. यजुर्वेद- 36/ -1-6
17. अथर्ववेद -19/9/14

को यदि हम जानें, उसे जीवन में अपनायें, उन संदेशों पर थोड़ा विचार करें, थोड़ा-सा मनुष्यत्व काम में लाएँ और वेद के उपदेश को हम हृदयङ्गम करें, तो जीवन में सुख और शान्ति मिलेगी, यश मिलेगा। ईश्वर को हम पिता के साथ-साथ माता भी मानते हैं-

त्वं हिनः पिता वसो त्वंमाताशतक्रतोबभूविथ।
अधातेसुम्नमीमहे।।[18]

अर्थात् सबको ठिकाना देनेवाले! सचमुच तू हमारा पिता है। जीवों के उत्पत्ति आदि नानाविध कर्म करने वाले परमात्मा! तू हमारी माता है, अतः हम तुझे उत्तम हृदय से चाहते हैं। ऐसी भव्य-भावना और दिव्य-गुणों से ही समाज का कल्याण होगा और इससे सार्वभौम मानवीय मूल्यों और मानवता की रक्षा करने में सहायता होगी।

उपरोक्त वैदिक मंत्र और अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जितनी ज्यादा वैदिक साहित्य के साथ जुड़े रहेंगे, वैदिक साहित्य को जीवन का आधार बनायेंगे उतना ही अधिक समाज एवं संसार का कल्याण होगा। संसार के सभी मानव चैन से, सुख से, शांति से जी सकेंगे और उतना ही मानव जाति का कल्याण होगा एवं विश्व में शांति स्थापित होगी।

✦✦✦

18. ऋग्वेद- 8/98/11

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (15-28) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

योग उपनिषदों में वर्णित प्राण एवं प्राणायाम का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक स्वरूप

केसर*
चारु मेहता*
प्रो. नीरू नत्थानी*

सारांश

योग उपनिषदों का यौगिक ज्ञान परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें अष्टांग योग, षडंग योग, हठयोग का समग्रता से वर्णन प्राप्त होता है। योग उपनिषदों में प्राणायाम, योग के प्रमुख अंग के रूप में सारगर्भित रूप से वर्णित है। इनमें प्राणायाम के विभिन्न अभ्यासों की विधि, लाभ एवं सावधानियों का वर्णन किया गया है। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राणायाम के माध्यम से स्थिर किया जाता है। शरीरस्थ वायुतत्व के कार्य व विषय भिन्न-भिन्न हैं। इस वायुतत्व के असंयमित होने से शरीर के साथ मन भी प्रभावित होता है, जिससे विभिन्न प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों के साथ-साथ भावनात्मक विकार भी उत्पन्न होते हैं। अतः प्राणायाम का विधिपूर्वक अभ्यास अत्यंत आवश्यक है। प्राणायाम के सम्यक् अभ्यास से प्राण सूक्ष्म होता है, 72000 स्थूल व सूक्ष्म नाड़ियों का परिशोधन होता है, कुंडलिनी जागरण के फलस्वरूप प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करता है, तथा प्राण-अपान के संयोग से योग की उच्च अवस्था प्राप्त होती है। प्राणायाम के अभ्यास से, चित्त की चंचलता समाप्त होती है तथा समस्त पापों का नाश होता है। प्राणायाम आत्मशक्ति जागरण की प्रक्रिया के साथ-साथ सर्वांगीण स्वास्थ्य की प्राप्ति का साधन है। वर्तमान समय में प्राणायाम के विभिन्न अभ्यास यौगिक साधना के साथ-साथ चिकित्सकीय रूप में भी अत्यधिक प्रचलित व प्रयुक्त हैं। अतः वर्तमान समय में प्राणायाम की उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए इसके शास्त्रीय व व्यावहारिक स्वरूप का समेकित

---

* शोधच्छात्रा

** शोधच्छात्रा

*** प्रोफेसर, स्वस्थवृत्त एवं योग विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.), भारत।

अध्ययन तथा तदनुसार उचित अभ्यास भी अत्यंत आवश्यक है।प्राणायाम के अनुचित अभ्यास के दुष्प्रभाव भी प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होते हैं। अतः प्रस्तुत शोध में प्राण तथा प्राणायाम के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक स्वरूप को भलीभांति समझने हेतु कतिपय योग उपनिषदों-श्वेताश्वतरोपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगचूड़ामण्युपनिषद्, त्रिशिखी-ब्राह्मणोपनिषद्, योगतत्वोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद् तथा योगराजोपनिषद् का समेकित अध्ययन किया गया है।

कुंचिका शब्दः अष्टांग योग, कुम्भक, प्राण, प्राणायाम, स्वास्थ्य, षडंग योग, हठयोग

1. प्रस्तावनाः

योग उपनिषदों के अंतर्गत योग से संबन्धित लघु उपनिषद् आते हैं। मुक्तिकोपनिषद् में वर्णित 108 उपनिषदों में से 20 उपनिषदों को विशेषतः योग उपनिषदों की श्रेणी में शामिल किया गया है। इन योग उपनिषदों में विभिन्न यौगिक अभ्यासों व तकनीकों के सैद्धांतिक व प्रायोगिक पक्षों का वर्णन प्राप्त होता है। विभिन्न योगाभ्यासों का सम्पूर्ण उपक्रम मानवीय जीवन के विविध आयामों- शरीर, मन, आत्मा तथा चेतना की सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करने का सुलभ व सशक्तसाधन है। इन यौगिक उपक्रमों में प्राणायाम का विशेष स्थान है। योग मानव को जीवनी शक्ति अर्थात प्राण को संयमित करने की कला सिखाता है। यह प्राणजय की विभिन्न विधियों के द्वारा प्राणायाम विज्ञान को आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ स्वास्थ्य लाभ हेतु भी एक सशक्त तकनीक के रूप में उल्लेखित करता है। प्राणायाम की इस वैज्ञानिक तकनीक को भलीभाँति न जानते हुए अभ्यास करना शास्त्रोक्त दृष्टि से ही नहीं अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी लाभप्रद सिद्ध नहीं होता है। अतः योग के प्रामाणिक ग्रन्थों में वर्णित विधियों का अध्ययन, तथा तदनुसार उनका अभ्यास आवश्यक है। प्राणायाम की प्रामाणिक विधियों के अभ्यास के साथ-साथ अन्य व्यावहारिक नियमावलियों का पालन भी आवश्यक है जैसे आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य इत्यादि। यह नियमावलियाँ भी प्राण को अत्यंत सूक्ष्म स्तर से प्रभावित करती हैं।

योग उपनिषदों में प्राण के मार्ग, स्थान, कार्य आदि का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इन उपनिषदों में अष्टांग योग[1,2], षडंग योग[3,4], हठयोग[5,6,7] के अंतर्गतप्राणायाम का एक प्रमुख अंग के रूप में उल्लेख है। अष्टांग योग के अंतर्गत प्राणायाम चतुर्थ अंग के रूप में वर्णित है। प्राणायाम के पूर्व यम-नियम रूपी सामाजिक व व्यक्तिगत अनुशासनों का पालन, आसन का भलीभाँति अभ्यास तथा नाड़ीशोधन आवश्यक है। इस प्रकार विधिवत् प्राणायाम का निर्देश योग उपनिषदों में

प्राप्त होता है। अतः इन सभी प्राण तथा प्राणायाम विषयक तथ्यों को भली-भाँति समझने हेतु तथा इसके शास्त्रीय व व्यावहारिक स्वरूप के स्पष्टतया प्रतिपादन हेतु, योग उपनिषदों के विशेष परिप्रेक्ष्य में विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

2. प्राण का स्वरूपः

शरीर में संचारित वायु को 'प्राण' कहते है।[8] यह शरीर में पंचप्राण तथा पंच उपप्राण के रूप में प्रतिष्ठित होकर विभिन्न कार्यों का निष्पादन करता है तथा जीव को धारण करके रखता है। प्राण, समस्त शारीरिक व मानसिक गतिविधियों के नियमन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ जीवन के अन्य पहलुओं को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार प्राण का एक बृहद् और व्यावहारिक स्वरूप हमारे समक्ष प्रकट होता है। योग का मुख्य लक्ष्य जो "चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध"[9] होना है उस अवस्था को प्राप्त करने में भी प्राण महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (पातंजलयोगसूत्र-1/2)

वासना (पूर्वजनित संस्कार) तथा वायु (प्राण) रूपी कारणद्वय से चित्त चंचल होता है अर्थात् इसमें वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन कारणद्वय में से किसी एक के निरुद्ध हो जाने पर दोनों निरुद्ध हो जाते हैं। इन दोनों में से सर्वप्रथम वायु (प्राण) पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।[10] इस हेतु प्राणायाम की विभिन्न विधियों का उल्लेख योगउपनिषदों में प्राप्त होता है।

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तछ्वावपि विनश्यतः॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।

(योगकुण्डल्युपनिषद्-1-2)

2.1 पंचप्राण तथा पंच उपप्राण[11,12]

मनुष्य शरीर में पंचप्राण व पंच उपप्राण स्थित हैं। पंचप्राण के अंतर्गत-1. प्राण, 2. अपान, 3. उदान, 4. समान, व 5. व्यान आते हैं। इन पंचप्राणों में 'प्राण' मुख्य है, इसका स्थान- हृदय, मुख, नासिका का मध्य भाग, पैर का अंगूठा व नाभि मण्डल है। यह अलग स्थित होकर, आमाशय में स्थित अन्न, जल, रस इत्यादि का सर्वप्रथम एकत्रीकरण कर पश्चात् पृथक्-पृथक् स्थापित करने का कार्य करता है। 'अपान' का स्थान-गुदा, जंघा व घुटना है। यह मल-मूत्र इत्यादि के विसर्जन का कार्य करता है। 'उदान' का स्थान-गला, हाथ-पैर व समस्त संधिस्थान है। यह उदान

वायु के द्वारा ऊर्ध्वगामी होता है। 'समान' नाभिस्थान व शरीर के समस्त अंगों में संव्याप्त है। यह शरीर के पालन-पोषण का कार्य करता है।

पंच उपप्राण के अंतर्गत-1. नाग, 2. कूर्म, 3. कृकल, 4. देवदत्त, व 5. धनंजय आते हैं। जिनके क्रमशः डकार, पलक झपकना, छींकना व भूख लगना, जंभाई व निद्रा, मृत्यूपरांत भी कुछ समय तक अविकृत रहना आदि कार्य हैं।

2.2 प्राणमार्गः त्रिविध नाड़ियाँ

मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य कुंडलिनी स्थित है। इसी कंदमूल से 72000 स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों का जाल सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है।[13] उनमें से 10नाड़ियाँ मुख्य हैं। उनमें से भी 3 प्रमुख हैं।[14,15]

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा।

(योगचूड़ामण्युपनिषद्- 16)

इड़ा-बायीं नासिका में, पिंगला-दायीं नासिका में, सुषुम्णा- इडा-पिंगला के मध्य, कन्द के बीच में स्थित है। ये तीनों नाड़ियाँ प्राणमार्ग में स्थित है। इन समस्त नाड़ियों में प्राण जीवरूप में वास करते हैं। सूर्य, चंद्र, अग्नि देवता प्राणों के वाहक हैं। प्राणायाम की विशेष विधियों द्वारा शरीरस्थ समस्त नाड़ियों विशेषतः इन त्रिविध नाड़ियों में प्राण के प्रवाह को नियंत्रित व संयमित किया जाता है। जिसका प्रभाव समस्त शरीर, मन तथा मस्तिष्कीय कार्यप्रणालियों पर पड़ता है।

3. प्राणायाम का स्वरूपः

योग उपनिषदों में प्राणायाम का सुस्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है, यह प्राणरोध की विधियों तथा कुम्भक के रूप में वर्णित है। इन उपनिषदों में प्राणायाम के शास्त्रीय स्वरूप के साथ-साथ प्राणायाम के दार्शनिक और व्यावहारिक स्वरूप भी स्पष्टतया वर्णित हैं। जो वर्तमान समय में भी प्राणायाम की व्यवहार्यता को प्रतिपादित करते हैं। औपनिषदिक संदर्भ में 'जगत के मिथ्या स्वरूप को भलीभाँति समझ लेना हि प्राणायाम कहा गया है।'[16]

जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः।

(त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 30)

प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा प्राण को स्थिर किया जाता है।[17] प्रयोगात्मक रूप से रेचक, पूरक, कुम्भक के माध्यम से वायु का शोधन करते हुए पुनः रेचक की क्रिया करना तथा इन चार विधियों द्वारा वायु को गतिशील करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं।[18]

रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा।
चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते॥

(त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 94-95)

प्रयोगात्मक रूप से प्राणायाम में मुख्यतः 3-प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं- 1. पूरक, 2. कुम्भक, 3. रेचक। पूरक श्वास को अंदर खींचने की प्रक्रिया है। इसमें नाभिस्थान में प्रतिष्ठित चतुर्भुज महाविष्णु का ध्यान करना चाहिए। कुम्भक श्वास को भीतर रोकने की प्रक्रिया है। इसमें हृदयस्थान में प्रतिष्ठित चतुर्मुख पितामह ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। रेचक श्वास को बाहर छोड़ने की प्रक्रिया है। इसमें ललाट में प्रतिष्ठित भगवान शिव का ध्यान करना चाहिए।[19] व्यावहारिक रूप से वस्तुतः पूरक के समय नाभिस्थान में, कुम्भक के समय हृदय स्थान में, तथा रेचक के समय ललाट प्रदेश में सजगता का अभ्यास करना चाहिए।

4. प्राणायाम सिद्धि के शास्त्रोक्त साधन एवं व्यावहारिक अनुप्रयोगः

प्राणायाम की सिद्धि में मिताहार, आसन, नाड़ीशोधन एवं कुम्भक का महत्वपूर्ण योगदान है। योगकुण्डल्युपनिषद् में प्राणों पर विजय प्राप्ति हेतु- मिताहार, आसन, एवं शक्तिचालिनी आदि 3-साधन उल्लिखित हैं।[35]

मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्-2)

4.1 मिताहारः

मिताहार, प्राणों पर विजय प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। यौगिक परंपरा में मिताहार से तात्पर्य- संतुलित व नियंत्रित आहार से है। योग अभ्यासी को पेट का आधाभाग सुस्निग्ध व मधुर भोजन से, एक चौथाई भाग पानी से तथा एक चौथाई भाग वायुसञ्चरण के लिए रिक्त रखना चाहिए। इस प्रकार शिव के निमित्त अर्थात् स्वयं के कल्याण के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।[36,37] संतुलित, नियंत्रित, सात्विक व सुपाच्य आहार ही कल्याणकारी हो सकता है। भोजन की अत्यधिक मात्रा तथा भोजन की अत्यल्प मात्रा ग्रहण करना दोनों ही योगमार्ग में बाधक है।[38] अत्यधिक नमक, तेल, खटाई, गर्म, रूखा, तीक्ष्ण, हींग इत्यादि मसाले योगाभ्यास काल में अपथ्य कहे गये हैं तथा गेहूँ, मूंग, चावल इत्यादि पथ्य कहे गए हैं।[39,40] अनुचित आहार का सेवन शरीरस्थ प्राण, अपान इत्यादि पंचप्राण को प्रकुपित कर देता है, जिससे उनसे संबंधित कार्य भलीभांति नहीं हो पाते हैं। मिताहार से पंचप्राण पोषित तथा संयमित होते हैं। अतः प्राणों पर विजय प्राप्ति हेतु मिताहार एक प्रमुख साधन है।

आहार से तात्पर्य न केवल मुख द्वारा ग्रहण किए गए भोज्य पदार्थों से है, अपितु 'जो सभी दिशाओं से ग्रहण किया जाए' वह भी आहार है। (आ-समन्तात् ह्रीयते इति आहारः) अर्थात् पंच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण किए गए विभिन्न विषय भी आत्मा का भोजन है। अतः विवेकपूर्ण ढंग से ज्ञानेन्द्रियों को निर्देशित करना आवश्यक है। बाह्यइंद्रियविषय, प्राणवायु की सामान्य गति को असंयमित करते हैं। यौगिक ग्रंथों में प्राणवायु और चित्त का घनिष्ठ संबंध बताया गया है। वायु के चलायमान होने पर चित्त चंचल तथा वायु के स्थिर होने पर चित्त स्थिर हो जाता है।[41]

योगशास्त्रों के अनुसार जो योगसाधक मिताहार के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसका 1-वर्ष में ही योग सिद्ध हो जाता है।[42] अतः शारीरिक व मानसिक रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना भी प्राणायाम सिद्धि व योगसाधना में प्रगति के लिए आवश्यक है।

4.2 आसन[43]

योगकुण्डल्युपनिषद् में दो-आसनों का उल्लेख है- 1. पद्मासन, 2. वज्रासन (विधिअनुसार सिद्धासन)

आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा। (योगकुण्डल्युपनिषद्- 4)

1. पद्मासन- दोनों पैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा, ऊपर की ओर करके रखना पद्मासन है। यह समस्त पापों का नाश करता है।

2. वज्रासन (विधिअनुसार सिद्धासन)- गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बाएं पैर की एड़ी को सिवनी स्थान (योनिस्थान) में तथा दायें पैर की एड़ी को उसके ऊपर लगाकर बैठना वज्रासन है।

ये दोनों आसन ध्यानात्मक आसन की श्रेणी में आते हैं तथा प्राणायाम के अभ्यास हेतु उपयुक्त माने जाते हैं। यदि प्राणायाम का अभ्यास इन आसन की अवस्था में किया जाए तो वह व्यवहारिक रूप से ज्यादा प्रभावी होगा।

4.3 नाड़ीशोधनः प्राणायाम के पूर्व निर्दिष्ट अभ्यास

योग उपनिषदों में यम-नियम तथा आसन आदि के सुसंयत अभ्यास के पश्चात् तथा प्राणायाम से पूर्व नाड़ीशोधन करने का विधान प्राप्त होता है।[20] नाड़ीशोधन प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी (बाएं स्वर) से पूरक करना है, यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात् पिंगला नाड़ी (दायें स्वर) से रेचक करना है। पुनः पिंगला नाड़ी से पूरक तथा इड़ा नाड़ी से रेचन करना है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करनी है।[21,22] पूरक, कुम्भक, रेचक की मात्रा 16:64:32 होना

चाहिए।[23,24] नाड़ीशोधन प्राणायाम के शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अभ्यास से शरीरस्थ समस्त नाड़ियाँ वायु से परिपूर्ण हो जाती हैं तथा उनमें दसों वायुओं का संचार सम्यक् रूप से होने लगता है।[25] इस कुम्भक का अभ्यास प्रतिदिन चार बार (प्रातःकाल, मध्यान्ह काल, सायं काल, अर्धरात्रि) करना चाहिए। तथा क्रमशः अभ्यास को बढ़ाते हुए कुम्भक की मात्रा को 80-तक करना चाहिए।[26,27] इस विधि से एक दिन के अभ्यास करने मात्र से पापों का शमन हो जाता है।[28] इससे मात्र 2-3 माह में नाड़ीशोधन हो जाता है।[29,30] नाड़ियों का शोधन होने से वायुधारण क्षमता तथा आरोग्यता में वृद्धि होती है, जठराग्नि प्रबल होती है व दिव्यनाद सुनाई देता है।[31] योगसाधक, वायु को जीतने वाला, जितेंद्रिय, अल्पाहारी, स्वल्प नींद वाला, तेजस्वी व बलवान तथा दीर्घायु होता है।[32] नाड़ीशोधन प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में हल्कापन तथा कृशता आ जाती है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है। योगाभ्यास में प्रगति हेतु इस समय योग में बाधक अनुपयुक्त आहार का त्याग कर देना चाहिए।[33] इस प्रकार निरंतर 3-वर्ष के अभ्यास से योगसिद्ध हो जाता है।[34]

4.4 शक्तिचालिनीः

कुंडलिनी शक्ति को चालन क्रिया द्वारा नीचे से ऊपर (भृकुटी मध्य) ले जाने की क्रिया 'शक्तिचालिनी' है। मुख्यतः कुंडलिनी चलाने के दो साधन हैं[44]- 1. सरस्वती चालन, 2. प्राणरोध (प्राणायाम)

1. सरस्वती चालन[45]- जिस समय इड़ा नाड़ी चलायमान हो उस समय पद्मासन में स्थित होकर सरस्वती का भलीभाँति संचालन करने से कुंडलिनी स्वयं चलने लगती है। कुंडलिनी नाड़ी (कंदस्थान) को 12-अंगुल लम्बे और 4-अंगुल चौड़े वस्त्र के टुकड़े से लपेटे तथा अंगुष्ठ व तर्जनी से दोनों नासाछिद्रों को पकड़कर, प्रथमतः बाएं फिर दायें नासाछिद्र से बारम्बार रेचक और पूरक करने का विधान है। दायें नासाछिद्र से रेचक करते हुए कण्ठसंकोचन करने से अधोगत वायु वक्षस्थल से ऊपर गमन कर जाता है। इस प्रकार दो-मुहूर्त (96-मिनट) तक अभ्यास करने से प्राण सुषुम्णा में प्रवाहित होने लगता है। इसके शास्त्रोक्त विधि के अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है, जलोदर, गुल्म, प्लीहा तथा पेट के समस्त रोग समाप्त होते हैं।

2. प्राणरोध (प्राणायाम)- कुम्भक की विशिष्ट विधियां

योग उपनिषदों में प्राण तथा कुम्भक के विशेष संदर्भ प्राप्त होते हैं। योगकुण्डल्युपनिषद् के संदर्भ में शरीर में संचारित वायु को 'प्राण' कहते हैं। जब प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा प्राण को स्थिर किया जाता है तब उसे 'कुम्भक' कहते

हैं।[46] यह कुम्भक द्विविध प्रकार से वर्णित है- 1. सहित कुम्भक, 2. केवल कुम्भक[47], जिसमें सहित कुम्भक चतुर्विध प्रकार से वर्णित है।[48]

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥
सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्- 19-21)

1. सूर्यभेदन कुम्भक[49]- दाहिनी नासिका (पिंगला नाड़ी) से पूरक की प्रक्रिया द्वारा वायु को पर्याप्त मात्रा में उदर में भरना है। तत्पश्चात् बायीं नासिका (इड़ा नाड़ी) से रेचन करना है। यह सूर्यभेदन कुम्भक की शास्त्रीय विधि है। कपालशोधन, वातदोष तथा कृमिदोष का नाश इसके शास्त्रोक्त लाभ के रूप में वर्णित हैं।

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्- 25)

2. उज्जायी कुम्भक[50]- मुख को बंद रखकर, दोनों नासाछिद्रों से वायु को शनैः-शनैः इस प्रकार खींचना है कि श्वास से हल्की ध्वनि होती रहे। इस प्रकार वायु को हृदय व कंठ पर्यंत भरना है तथा कुम्भक पश्चात् बाएं नासाछिद्र से रेचन की प्रक्रिया सम्पन्न करनी है। यह उज्जायी कुम्भक की शास्त्रीय विधि है। इसका अभ्यास चलते-फिरते भी किया जा सकता है। इसके शास्त्रोक्त लाभों में सिर की गर्मी व गले का कफ दूर होना, जठराग्नि में वृद्धि, जलोदर तथा धातुरोग का समाप्त होना वर्णित है।

शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम्॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्- 28-29)

3. शीतली कुम्भक[51]- जिह्वा के द्वारा वायु को आकृष्ट कर कुम्भक का अभ्यास करने के पश्चात् नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना है। यह शीतली

कुम्भक की शास्त्रीय विधि है। प्लीहा, गुल्म, पित्त, ज्वर, तृषा इत्यादि रोगों का शमन इसके शास्त्रोक्त लाभ के रूप में वर्णित हैं।

गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भको ऽयं निहन्ति च॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्- 31)

4. भस्त्रिका कुम्भक[52]- पद्मासन में स्थित होकर, शरीर को सीधा रखकर, मुख को बंद करके नासिका के द्वारा रेचक (वायु को बाहर निकालना) करना है, पुनः वायु को तीव्रता के साथ खींचते हुए पूरक (वायु को अंदर लेना) की क्रिया सम्पन्न करना है। पूरक करते समय वायु का स्पर्श कंठ, तालु, सिर, हृदय को मालूम पड़ना चाहिए। पुनः वायु का रेचक तथा पूरक करना है। इस प्रकार लोहार की धौंकनी के समान वेगपूर्वक वायु को खींचना व निकालना है। थकान अनुभव होने पर दाहिनी नासिका से पूरक कर, कुम्भक पश्चात् बायीं नासिका से रेचक करना है। यह भस्त्रिका कुम्भक की शास्त्रीय विधि है। इसके अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है, जठराग्नि बढ़ती है, यह सुखकारी, पुण्यकारी, पापनाशक है। यह सुषुम्णा नाड़ी के मुख पर स्थित कफ को नष्ट कर कुंडलिनी जागरण में सहायता प्रदान करता है तथा त्रिगुणों से उत्पन्न ग्रंथियों का भेदन करता है। ये सभी भस्त्रिका कुम्भक के शास्त्रीय लाभ के रूप में वर्णित हैं।

कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्।

कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥

गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्- 37-39)

उपर्युक्त चतुर्विध प्राणायामों के कुम्भक के समय योगसाधक को बंधत्रय (मूलबन्ध, जालन्धर बंध, उड्डीयान बंध) का अभ्यास भी करना चाहिए। इन प्राणायामों का प्रथम दिन 10-बार, द्वितीय दिन 15-बार अभ्यास करते हुए प्रतिदिन क्रमशः पाँच-पाँच की संख्या बढ़ानी चाहिए।[53]

4.5 ओंकार प्राणायामः

योगचूड़ामण्युपनिषद् के अनुसार- ओंकार प्राणायाम वह प्राणायाम है जिसमें पूरक- द्वादश मात्रा, कुम्भक- षोडश मात्रा, और रेचक- दस मात्रा का होता है। इस

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक, रेचक प्रक्रिया को साक्षात् प्रणव का रूप मानकर इस द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इस प्राणायाम से योगसाधक के समस्त दोष समाप्त हो जाते हैं।[54] अतः ब्रह्मा को लक्ष्य मानकर, प्रणवरूपी धनुष तथा आत्मारूपी बाण से, बिना प्रमाद के तन्मयतापूर्वक लक्ष्य का वेधन करना चाहिए। इससे योगसाधक ब्रह्मा की सायुज्यता प्राप्त कर अंततः मोक्ष को प्राप्त करता है।[55]

4.6 अजपा गायत्रीः

मनुष्य 'हंस मंत्र' का सदैव जाप करता रहता है। श्वास 'सकार' ध्वनि करते हुए शरीर के भीतर तथा 'हकार' ध्वनि करते हुए बाहर जाती है। मनुष्य इस मंत्र का जाप 21600 बार प्रतिदिन करता है। यही अजपा गायत्री है, जो प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या-महाविद्या है। यह योगियों को मुक्ति प्रदान करने वाली है।[56,57] अतःव्यावहारिक रूप से जो श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक प्रक्रिया चल रही है, उसके प्रति सजग होना चाहिए।

5. प्राणायाम के स्तर[58,59,60]

प्राणायाम के तीन स्तर हैं- 1. अधम प्राणायाम, 2. मध्यम प्राणायाम, 3. उत्तम प्राणायाम।

प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः।
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः।
उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः॥

(त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 104-105)

अधम प्राणायाम वह प्राणायाम है जिसमें शरीर में पसीना आता है। इस पसीने को शरीर में ही मल देना चाहिए, इससे पसीने के माध्यम से होने वाले धातुक्षय से बचा जा सकता है। इस प्राणायाम से आधि (शारीरिक रोग), व्याधि (मानसिक रोग) तथा समस्त पापों का विनाश हो जाता है।

मध्यम प्राणायाम वह प्राणायाम है जिसमें शरीर में कंपन होने लगता है। इस प्राणायाम से पाप, रोग, तथा समस्त महाव्याधियों का नाश होता है।

उत्तम प्राणायाम वह प्राणायाम है जिसमें शरीर भूमि से ऊपर की ओर उठता है। इस प्राणायाम से योगसाधक अल्प निद्रा वाला, अल्प मल-मूत्र वाला हो जाता है, वह लघुदेहि तथा अल्पाहार ग्रहण करने वाला हो जाता है, उसकी समस्त इंद्रियाँ और बुद्धि तीव्र हो जाती है तथा वह त्रिकालविद् अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य को जानने में समर्थ हो जाता है।

6. योगाभ्यास/प्राणायाम के विघ्नः

योग में बाधक 10-विघ्नों का उल्लेख प्राप्त होता है, ये विघ्न प्राणायाम अभ्यासी के समक्ष भी प्रकट होते हैं। मुझे योगाभ्यास से रोग हो गया है, ऐसा कहकर योगसाधक द्वारा योगाभ्यास बंद कर देना, योगसाधना पर संशय करना, प्रमत्तता, आलस्य, युक्त निद्रा न लेना, योगसाधना से प्रेम न होना, भ्रान्ति होना, विषय वासना में अनुरक्ति, अप्रसिद्धि, योगतत्व का प्राप्त न होना ये सभी योगाभ्यास में बाधक विघ्न हैं। इन दस विघ्नों का योगसाधक को भलीभाँति विचार करना चाहिए तथा इसका त्याग कर देना चाहिए।[61]

इसके अलावा दिवासुप्ति, रात्रिजागरण, अतिमैथुन, मल-मूत्र के वेग को रोकना, अत्यधिक चलना, आसनों का भलीभाँति अभ्यास न करना, चिंतित रहना, अग्नि सेवन, अत्यधिक नियमाग्रही होना यथा- प्रातः काल का स्नान, उपवास तथा शरीर को पीड़ा पहुचाने वाले अन्य कार्य का त्याग कर देना चाहिए। प्राणायाम के अभ्यास में अत्यधिक शक्ति नहीं लगाना चाहिए, इससे रोग उत्पन्न होने की संभावना रहती है। मल शोधन होने के पश्चात् ही अपान को ऊर्ध्वगति में ले जाने का प्रयास करना चाहिए तथा नित्य सत्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।[62,63]

7. योग/प्राणायाम सिद्धि के लक्षण[64]

शारीरिक स्थूलता का कम होना, नीरोग होना, विषयों के प्रति आसक्ति न होना, कान्तियुक्त व तेजस्वी शरीर होना, स्वरमाधुर्य होना, देह में शुभ गंध होना व मल-मूत्र का अल्प होना ये सभी योगसिद्धि के लक्षण हैं। योगसिद्ध होने पर साधक को योगाग्निमय शरीर की प्राप्ति होती है तथा रोग, बुढ़ापा, मृत्यु का भय नहीं रहता है।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्- 2/12)

8. सम्यक् प्राणायाम के लाभः

वायु के विकृत होने से विविध प्रकार के रोग यथा- खांसी, श्वास, हिचकी, सिर, कान, आँख में पीड़ा इत्यादि उत्पन्न होते हैं। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणवायु को नियंत्रित करना चाहिए अर्थात् पूरक, कुम्भक व रेचक का अभ्यास करना चाहिए।[65] इस प्रकार प्राणायाम रोगों से मुक्ति प्रदान करता है। शरीर के पीड़ित अंगों में जहां वायु के जकड़न आदि से दोष उत्पन्न हो गए हैं, उन दोषों का विनाश करने

के लिए उन अंगों में प्राण को धारण करने सेरोग दूर हो जाते हैं।[66,67] प्राणायाम इंद्रियों को अंतर्मुखी करने केलिए, मन को स्थिर करने के लिए भी अत्यंत अनिवार्य है।[68] उपनिषद् के अनुसार 12-बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की स्थिति बनती है।[69] प्राणायाम से पापों का विनाश होता है। यह संसार सागर से मुक्ति हेतु महासेतु के समान है।[70] योग की उच्च अवस्था में बिना किसी आलम्बन के चित्त और प्राण स्वतः अपनी अवस्था में स्थिर हो जाते हैं। यही उपनिषदात्मक रहस्य है।[71]

9. निष्कर्षः

योग, प्राण अर्थात् जीवनी शक्ति को संयमित करने की कला है। योग के प्रमुख उपक्रमों में प्राणायाम एक विशेष वैज्ञानिक तकनीक के रूप में उल्लिखित है। योगउपनिषदों में प्राणायाम की शास्त्रीय विधियों व व्यावहारिक अनुप्रयोगों का सुस्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। प्राणायाम की यह तकनीक व्यावहारिक रूप से तभी प्रभावी होगी जब इसका अभ्यास शास्त्रोक्त विधि से किया जायेगा। विधिवत् अभ्यास के साथ-साथ अन्य व्यावहारिक नियमावलियों यथा आहार इत्यादि का पालन आवश्यक है। प्राणायाम के सम्यक् अभ्यास से शरीर, मन, तथा चेतना की सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है तथा स्वास्थ्य लाभ के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

पाद-टिप्पणीः

1. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 23, 29-35
2. योगतत्वोपनिषद्- 24
3. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 2
4. ध्यानबिन्दूपनिषद्- 41
5. योगतत्वोपनिषद्- 24
6. ध्यानबिन्दूपनिषद्- 1
7. योगराजोपनिषद्- 1
8. योगकुण्डल्युपनिषद्- 19
9. पातंजलयोगदर्शन- 1/2
10. योगकुण्डल्युपनिषद्- 1-2
11. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 6, 77-87
12. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 22-30, 117-119
13. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 6-8
14. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 13-20
15. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 50-55
16. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 30
17. योगकुण्डल्युपनिषद्- 19
18. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 94-95
19. ध्यानबिन्दूपनिषद्- 30-32
20. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 53
21. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 98
22. योगतत्वोपनिषद्- 38-39
23. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 96-97
24. योगतत्वोपनिषद्- 41-42
25. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 99
26. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 101
27. योगतत्वोपनिषद्- 43
28. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 102

29. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 98
30. योगतत्वोपनिषद्- 44
31. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 100
32. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 103-104
33. योगतत्वोपनिषद्- 45-46
34. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 103
35. योगकुण्डल्युपनिषद्- 2
36. योगकुण्डल्युपनिषद्- 3-4
37. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 43
38. श्रीमद्भगवद्गीता- 6/16
39. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 41
40. योगतत्वोपनिषद्- 47-49
41. हठप्रदीपिका- 2/2
42. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 42
43. योगकुण्डल्युपनिषद्- 4-6
44. योगकुण्डल्युपनिषद्- 7-8
45. योगकुण्डल्युपनिषद्- 10-18
46. योगकुण्डल्युपनिषद्- 19
47. योगकुण्डल्युपनिषद्- 20
48. योगकुण्डल्युपनिषद्- 21
49. योगकुण्डल्युपनिषद्- 24-25
50. योगकुण्डल्युपनिषद्- 26-29
51. योगकुण्डल्युपनिषद्- 30-31
52. योगकुण्डल्युपनिषद्- 32-39
53. योगकुण्डल्युपनिषद्- 40, 54-55
54. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 101-103
55. ध्यानबिन्दुपनिषद्- 14-15
56. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 31-35
57. ध्यानबिन्दूपनिषद्- 61-63
58. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 104-107
59. योगतत्वोपनिषद्- 51-55
60. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 105
61. योगकुण्डल्युपनिषद्- 58-61
62. योगतत्वोपनिषद्- 47-48
63. योगकुण्डल्युपनिषद्- 56-57, 62-63
64. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 2/12-13
65. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 117-119
66. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 113
67. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 116
68. त्रिशिखीब्राह्मणोपनिषद्- 114-117
69. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 111-112
70. योगचूड़ामण्युपनिषद्- 108
71. नादबिन्दूपनिषद्- 55-56

संदर्भ ग्रन्थ सूची:

- शर्मा, आचार्य श्रीराम शर्मा, भगवती देवी, संपादक, *108 उपनिषद् : साधनाखंड*, पुनर्मुद्रित संस्करण, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, भारत, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, 2022. पृ. 67-224।
- शर्मा, आचार्य श्रीराम शर्मा, भगवती देवी, संपादक, *108 उपनिषद् : ज्ञानखंड*, पुनर्मुद्रित संस्करण, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, भारत, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, 2022. पृ. 214-221, 407-424।
- शर्मा, आचार्य श्रीराम शर्मा, भगवती देवी, संपादक, *108 उपनिषद् : ब्रह्मविद्याखंड*, पुनर्मुद्रित संस्करण, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, भारत, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, 2022. पृ. 259-270।

- स्वामी दिगम्बरजी झा, पीताम्बर, संस्करणकर्ता, *हठप्रदीपिका : स्वात्माराम कृत*, षष्ठम संस्करण, स्वामी कुवल्यानंद मार्ग, लोनावाला, पुणे, महाराष्ट्र, कैवल्यधाम, 2017, पृ. 35।
- गोयंदका, हरीकृष्णदास, टीकाकार, *पातंजलयोगदर्शन : महर्षि पतंजलिकृत*, पुनर्मुद्रित संस्करण, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2075. पृ. 11।
- *श्रीमद्भगवद्गीता*, पुनर्मुद्रित संस्करण, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2070. पृ. 15–16।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (29-36) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

लिङ्गप्रमाण-स्वरूपनिरूपण

-डॉ० रामचन्द्रमेघवाल*

प्रत्येक शब्द से सामान्यत: दो प्रकार के अर्थ प्रकाशित होते हैं। एक अर्थ वह है जो शब्द के उच्चारण मात्र होने पर प्रकट हो जाता है। इस अर्थबोध के लिये उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ नहीं लिया जाता। और यह अर्थ जो शब्द के उच्चारण होने मात्र से प्रकट हो जाता है वह मुख्यत: अनादि परम्परा से लोकस्वीकृत होता है। इसी को मुख्य अर्थ माना जाता है। उदाहरणस्वरूप **'पङ्कज'** शब्द ले सकते हैं। पङ्कज शब्द का सर्वस्वीकृत अर्थ है 'कमल' नामक पुष्पविशेष। इसी को पंकज का मुख्यार्थ माना जाता है। 'कीचड़ में उत्पन्न होने वाला' यह पंकज का व्युत्पत्तिगत अर्थ है। और इसी अर्थ को यौगिक अर्थ कहा जाता है जो कि गौण माना जाता है। तथा इसी को समाख्या भी कहते हैं। मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शब्दशक्ति को अभिधा नामक शक्ति कहते हैं। और इसी अभिधा शक्ति का मीमांसाशास्त्र में पारिभाषिक नाम लिङ्ग माना जाता है। मीमांसक प्रधानरूप से अभिधावादी होते हैं। अत: उनकी दृष्टि में अभिधा का ही प्रधान्य होता है। अभिधा शक्ति से प्रतीयमान अर्थ रूढ होता है, अत: अभिधाशक्तिरूढ़ि भी कहलाती है। अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द का श्रवण होते ही अर्थबोध हो जाता है। शब्द-श्रवण व अर्थबोध में व्यवधान का अभाव रहता है, जबकि यौगिक अर्थबोध में अभिधा की अपेक्षा अधिक काल की आवश्यकता होती है। व्यवधानराहित्य होने से अर्थ का बोध रुढ़-अर्थ की मुख्यता का कारण है। अत: निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि लिङ्ग समाख्या (यौगिक शब्द) से भिन्न है।

लिङ्गप्रमाण का स्वरूप:- लिङ्ग नाम है सामर्थ्य का और वह सामर्थ्यरूपलिङ्ग दो प्रकार का होता है- अर्थगत और शब्दगत। **लिङ्गं नाम सामर्थ्यम्। तच्चद्विविधम्- अर्थगतंशब्दगतञ्चेति।**[1]

अर्थगतसामर्थ्य का स्वरूप- मीमांसादर्शन के प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद के अन्तिम अधिकरण (1/4/19) को **'सामर्थ्याधिकरण'** माना जाता है इस अधिकरण

---

* असिस्टेंटप्रोफेसर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय हरिद्वार।

1. मीमांसापरिभाषा

में यह निर्णय किया गया है कि जिस-जिस पदार्थ में जो जो कार्य करने का सामर्थ्य हो वह वह पदार्थ उस उस कार्य के लिए ही उपयुक्त होगा, ऐसा सामर्थ्यवश जानना चाहिये।

'स्रुवेणावद्येत् यथा शक्नुयात्। तथा यस्यशक्नुयात्तस्यचेति। आख्यात-शब्दानामर्थब्रुवतांशक्तिः सहकारिणी। एवञ्चेद् यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति'।[3]

अर्थगतसामर्थ्य का उदाहरण- स्रुवेणावद्यति। यहां पर अवद्यति से केवल अवदान का कारण ज्ञात हो रहा है और अवदान का कारणीभूत अङ्गःस्रुव है। अतः **स्रुवेण अवद्यति** इस विधि से अवदान सामान्य का शेषत्व (अङ्गत्व) का स्रुव में निश्चय होने पर भी स्रुव को सामर्थ्य रूप लिङ्ग से आज्य = घृत व सान्नाय्य = दूध-दधि आदि कोमल द्रव्यों के अवदान विशेष का ही अङ्गत्व प्राप्त है, क्योंकि स्रुव से पुरोडाश आदि कठिन द्रव्यों का अवदान = खण्ड करना अशक्य होने के कारण सामर्थ्य का अभाव है।

शब्दगतसामर्थ्य का स्वरूप- शब्दगत सामर्थ्य अर्थप्रकाशनरूप सामर्थ्य होता है।, अर्थात् अर्थ के प्रकाशन का सामर्थ्य शब्द में ही है। **शब्दगतन्तु लिङ्गमर्थ-प्रकाशनसामर्थ्यम् यथा- अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि**[4] यह मन्त्र निर्वाप रूप अर्थ के प्रकाशन में सामर्थ्य रखता है। इसलिये उस सामर्थ्य रूप लिङ्ग से निर्वाप का अङ्ग हो जाता है वह मन्त्र उस निर्वापरूप अर्थ का अङ्ग माना जाता है। अब समस्या यह कि विनियोग विधि के विनियोजक व बलाबल अधिकरण में विवेचित लिङ्गप्रमाण को अर्थगत सामर्थ्य लिङ्ग माना जाये या शब्दगत सामर्थ्य लिङ्ग। इसका निर्णय समस्त मीमांसा परम्परा के आधारभूत शाबरभाष्य पर ही निर्भर है।

मीमांसादर्शन के भाष्यकारशबरस्वामी ने मीमांसा के बलाबल- अधिकरण की व्याख्या करते हुए लिङ्ग की परिभाषा दी- जो शब्द के अर्थ को कहने का सामर्थ्य है, वह लिङ्ग कहलाता है। **यत् तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुं सामर्थ्यं तल्लिङ्गम्।**[5]

अतः शाबरभाष्य के अनुसार शब्दगत-सामर्थ्य ही लिङ्गप्रमाण है अर्थात् अर्थगतसामर्थ्य को बलाबलविचार प्रसंग में लिङ्गप्रमाण नहीं माना जायेगा यथा- **लिङ्गं पुनः- कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे 'इतीन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधान-सामर्थ्यम्'**[6] प्रकृत उदाहरण वाक्य में इन्द्र शब्द का विशिष्टदेवता को कहने का जो सामर्थ्य है वही लिङ्ग है।

---

3. मीमांसाशाबरभाष्य 1/4/30
4. मीमांसापरिभाषा
5. मीमांसाशाबरभाष्य 3/3/14
6. मीमांसाशाबरभाष्य 3/3/14

शाबरभाष्य की इस परिभाषा पर भट्ट कुमारिल ने अपनी तन्त्रवार्तिक टीका में लिङ्ग प्रमाण की परिभाषा (लक्षण) इस प्रकार लिखी- **यच्छब्दस्योक्तिसामर्थ्यं तल्लिङ्गम्**।[7]

और मीमांसादर्शन के तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद के लिङ्गाधिकरण की व्याख्या में कुमारिल भट्ट ने लिङ्ग की परिभाषा इस प्रकार दी- **लिङ्गं नाम मन्त्राणा-मर्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्**।[8]

स्कन्द स्वामी ने निरुक्त 1/17 के **'लिङ्गज्ञा अत्र स्मः'**[9] की व्याख्या करते हुए लिङ्ग का लक्षण इस प्रकार किया- 'देवता को कहने में समर्थ शब्द' लिङ्ग कहलाता है- **लिङ्गं देवताभिधानसमर्थः शब्दः**।[10]

शब्द की अभिधान शक्ति लिङ्ग है जैसा कहा भी गया है- सभी शब्दों की शक्ति लिङ्ग कही जाती है। शक्ति रूढ़ि ही होती है। इसलिये यह शक्ति रूपीलिङ्ग समाख्या से भिन्न है, क्योंकि यौगिक शब्दरूपी समाख्या से रूढ़िरूपी लिङ्ग शब्द की भिन्नता होने से- **शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः- 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्य-भिधियते' इति। सामर्थ्यं रुढिरेव। तेन समाख्यातोऽस्याभेदः। यौगिकशब्द समाख्यातो रूढ्यात्मक लिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्**।[11]

अर्थसंग्रह की संस्कृतव्याख्या 'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी' में भी शब्दगत सामर्थ्य ही विवक्षित है- **शब्दसामर्थ्यमिति। लिङ्गमिति लक्ष्यनिर्देशः। सामर्थ्यं लिङ्ग-मित्युक्तेऽङ्कुरादिजननानुकूलबीजादि सामर्थ्ये तत्प्रसङ्गः स्यात्तद्वारणायशब्देति विशेषणम्**।[12]

मीमांसान्यायप्रकाशकार ने जो **'सामर्थ्यं लिङ्गम्'** तथा **'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते'** ये लिङ्गद्वयसाधारण लक्षण है अर्थात् इन लक्षणों से शब्दगत एवं अर्थगत दोनों सामर्थ्य विवक्षित है। **सर्वभावानां = सर्वपदार्थानाम्** अर्थात् शब्दगत व अर्थगत दोनों का साधारण लक्षण बताकर के शब्दगत लिङ्ग का ही विशेषविचार सम्भव होने से उस लिङ्ग का ही विनियोजकत्व तर्क द्वारा स्थापित किया जाता है। **लिङ्गद्वय साधारण्येन लक्षणमुक्त्वा शब्दगतस्य लिङ्गस्यैव विशेषविचारसम्भवात् तदर्थं तस्यैव विनियोजकत्वमुपपादयतितेनेति। लिङ्ग द्वयान्तर्गतेन शब्दगतेन**

---

7. तन्त्रवार्तिक 3/3/14
8. तन्त्रवार्तिक 3/2/1
9. निरुक्तस्कन्दस्वामी 1/17
10. निरुक्त स्कन्दस्वामी1/17
11. अर्थसंग्रहलिङ्गनिर्वचनम्
12. अर्थसंग्रह की व्याख्या मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी

लिङ्गेनेत्यर्थः।[13] इसी प्रकार न्यायरत्नमालाकार ने भी साधारण लक्षण दिया है- **'सर्वभावगता शक्तिर्लिङ्गमित्यभिधीयते'**[14] कुछ मीमांसकों की मान्यता है कि इन साधारण लक्षणों परिभाषाओं का स्रोत भट्ट कुमारिलकृततन्त्रवार्तिक ही है। **'सामर्थ्यं सर्वभावानामर्थापत्यावगम्यते'**[15]

कुतूहलवृत्तिकार ने मन्त्रगत व अर्थगत सामर्थ्य को लिङ्ग कहा है और मन्त्रों का सम्बन्ध मुख्यार्थलिङ्ग के साथ होता है, गौणार्थ के साथ नहीं क्योंकि गौणार्थ तो यौगिकार्थ शब्द होने से समाख्या के साथ सम्बन्ध होगा। और मुख्यार्थ के साथ ही नित्य संयोग होता है। गौणार्थ के साथ नहीं। **लिङ्गं नाम सामर्थ्यं मन्त्रगतमर्थगतञ्च। तत्र मन्त्रगतमर्थप्रकाशनसामर्थ्यम्। मन्त्राणां ह्यनुष्ठेयार्थप्रकाशनसामर्थ्यं मन्त्राधिकरणे स्थितम्। अर्थगतन्तु द्रवद्रव्यावदानादि सामर्थ्यं स्रुवादिनिष्ठम् 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्' इत्यधिकरणे निरुपितम्। तत्र 'बर्हिर्... मुख्यार्थेन मन्त्राणां सम्बन्धः स्यात् कुतः? अर्थेन मुख्यार्थेनैव नित्यसंयोगात्। -तस्मात्सति संभवे मुख्यार्थ एव मन्त्र लिङ्गं विनियोजकमिति।**[16]

लिङ्ग के द्वारा अङ्गत्व का उदाहरण- **'बर्हिर्देवसदनंदामि'** (देवताओं के आसन कुश को मैं काटता हूँ) यह मन्त्र कुश के काटने का अङ्ग है। क्योंकि बर्हि के अनेक अर्थों में कुश ही रूढ़ है, न कि उलप आदि कुश के सदृश दूसरे तृण। कुश ही देवसदन है। इसी का काटना अभीष्ट है न कि उलप आदि का काटना, क्योंकि **'बर्हिः दामीति लिङ्गात्तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्।'** इस लिङ्ग से यह मन्त्र कुश की कटाई को व्यक्त करने में समर्थ है। क्योंकि शब्दसामर्थ्य को लिङ्ग माना जाता है और प्रकृत मन्त्र में सामर्थ्य है कि वह लवन को प्रकाशित करें। अतः यहां लवन प्रकाशन सामर्थ्य ही लिङ्ग है। वह सामर्थ्य दामि शब्द में है और इस लिङ्ग (बर्हिलवनप्रकाशनरूप सामर्थ्य) से श्रुति की कल्पना की जाती है। कल्पित श्रुति का स्वरूप होगा- **अनेन मन्त्रेण बर्हिर्लवनं सम्पादयेत्**[17] इस श्रुति से अङ्गत्व का बोध होगा। और अङ्गत्व का रूप- **मन्त्रोऽयंबर्हिर्लवनाङ्गम्।**

मन्त्रगत शब्दों के मुख्य एवं गौण दो प्रकार के अर्थ होते हैं। लिङ्ग मुख्य अर्थ का ही विनियोजक होता है, गौण अर्थ का नहीं होता। उन दो प्रकार के लिङ्गों में से **मन्त्रविनियोजकलिङ्गसामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरापेक्षलिङ्ग** होता है मन्त्र

---

13. मीमांसान्यायप्रकाशसारविवेचिनीटीका
14. न्यायरत्नमाला
15. तन्त्रवार्तिक-1/3/36
16. कुतूहलवृतिलिङ्गाधिकण 3/3/1-2
17. मीमांसान्यायप्रकाशसारविवेचिनी टीका पृ. 37

का विनियोग करने वाला लिङ्गमन्त्र को मुख्यार्थ में ही विनियुक्त करता है गौणार्थ में नहीं। क्योंकि मुख्यार्थ ही सर्वप्रथम बुद्धि में उपस्थित होता है और उसी प्रथम उपस्थित मुख्यार्थ में मन्त्र के विनियोग की आकाङ्क्षा शान्त हो जाने के बाद फिर से गौणार्थ में मन्त्र के विनियोग की कल्पना करने में गौरव नामक दोष की प्राप्ति होती है। इस कारण **बर्हिर्देवसदनं दामि** यह मन्त्रलिङ्गप्रमाण से कुशलवन का अङ्ग होगा क्योंकि कुश बर्हि शब्द का मुख्यार्थ है, उलप नामक तृणसमूह के लवन का अङ्ग नहीं होता क्योंकि ये उलप नामक तृणसमूह 'बर्हिश्शब्द का गौणार्थ है।

तत्र मन्त्रविनियोजकं लिङ्गं मुख्य एवार्थेविनियोजकं, न गौणे। मुख्यार्थस्य प्रथममुपस्थितत्वेन तत्रैव विनियोगबुद्धौ पर्यवसन्नायां पुनर्गौणेऽर्थे विनियोगकल्पनायां गौरवप्रसंगात्। अत एव 'बर्हिर्देवसदनं दामीति' मन्त्रः सामर्थ्यात्कुशलवनाङ्गम्, तेषाम् मुख्यत्वात्, नोलपराजिलवनाङ्गमित्युक्तम्।[18]

लिङ्ग के स्वरूपवर्णन के पश्चात् अब भेदों का वर्णन किया जा रहा है।

लिङ्ग के प्रभेद-

तच्चलिङ्गंद्विविधम्। वह लिङ्ग दो प्रकार का है-

(I) सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्षलिङ्ग।

(II) सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरसापेक्षलिङ्ग।[19]

लिङ्ग के इन दोनों भेदों में भिन्नता का कारण केवल दो शब्द अनपेक्ष व सापेक्ष है। शेष दोनों का लक्षण एकसमान है। अतः लक्षण के समानभाग को पहले समझते हैं। जो प्रमाण सामान्यरूप से यागादिसम्बन्धमात्र का बोध कराता है विशेष अङ्गाङ्गिभाव का बोध नहीं कराता, वह सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाण कहा जाता है। जैसा कि सारविवेचिनीकार ने कहा- **'यत् प्रमाणं सामान्यतो यागादिसम्बन्धमात्रं बोधयति न विशेषं, तत् सामान्यसम्बन्धबोधकं प्रमाणमित्युच्यते'**[20] अतः जो लिङ्गसामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करता, वह लिङ्गप्रमाणसामान्य-सम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्ष लिङ्ग कहलाता है। और जो लिङ्गसामान्यसम्बन्ध-बोधकप्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है वह लिङ्गप्रमाण-

सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरसापेक्ष लिङ्ग कहलाता है।

---

18. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
19. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
20. मीमांसान्यायप्रकाशसारविवेचिनी टीका

(i) सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्ष लिङ्ग-

तत्र यदन्तरेण यन्न सम्भवत्येव तस्य तदङ्गत्वं तदनपेक्षम्। तत्र तयोर्द्वयोर्लिङ्गयोर्मध्ये यदन्तरेण अर्थज्ञानमन्तेरण यन्न सम्भवत्येव कर्मानुष्ठानं न सम्भवत्येव तस्य अर्थज्ञानस्य तदङ्गत्वं कर्मानुष्ठानाङ्गत्वं तदनपेक्षं सामान्यसम्बन्ध-बोधकप्रमाणान्तरानपेक्षम्। केवललिङ्गादेव तस्य तदङ्गत्वं केवललिङ्गादेव बोध्यते न तु सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरमपेक्षते तल्लिङ्गमङ्गत्व बोधने। यथा- अर्थज्ञानस्यकर्मानुष्ठानाङ्गत्वम्। न ह्यर्थज्ञानमन्तरेणानुष्ठानं सम्भवति।[21]

जिस लिङ्ग प्रमाण स्थल में अङ्गत्व बोध के लिए लिङ्ग को किसी अन्य प्रमाण प्रकरणादि की अपेक्षा नहीं होती। केवल लिङ्ग प्रमाण से ही अङ्गत्व बोध कराया जाता है। यथा- **'यजेत स्वर्गकामः'** इस उदाहरण वाक्य में **'यजेत'** पदगतलिङ्गसामर्थ्य अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा यह बोध होता है। कि यागानुष्ठान के लिए वेदार्थबोध होना अत्यावश्यक है क्योंकि अर्थज्ञान के बिना कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं है। अतः शब्द सामर्थ्यरूपलिङ्गप्रमाण से 'वैदिकवाक्यार्थज्ञानेन कर्मानुष्ठानं भावयेत्' इस प्रकार श्रुति कल्पना की जायेगी फिर विनियोग- 'अर्थज्ञानं कर्मानुष्ठानाङ्गम्'।अतः 'अर्थज्ञानकर्मानुष्ठान का अङ्ग है' यह लिङ्गप्रमाण से सिद्ध होता है। [जिस पदार्थ के विना जो कोई दूसरा पदार्थ संभव नहीं होता ऐसी स्थिति में वह पदार्थ उस दूसरे पदार्थ का अङ्ग बिना उस (सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तर) की अपेक्षा किये केवल लिङ्ग (सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्षलिङ्ग) से ही होता है। जैसे वैदिक वाक्यों के अर्थ का ज्ञान कर्मानुष्ठान का अङ्ग होता है। (यह अङ्गाङ्गिभाव नित्य होता है) क्योंकि अर्थ ज्ञान के विना कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं होता। -**तत्र यदन्तरेण यन्न सम्भवत्येव तस्य तदङ्गत्वं तदनपेक्षं केवललिङ्गादेव। यथा- अर्थज्ञानस्य-कर्मानुष्ठानाङ्गत्वम्। न ह्यर्थज्ञानमन्तरेणानुष्ठानं सम्भवति।**[22]

अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है- **तत्र यद्विना यन्न संभवति तस्य तदङ्गत्वम्।**[23]

लिङ्ग का द्वितीय प्रकार-

(ii) सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरसापेक्ष लिङ्ग-

जिस पदार्थ के बिना जो दूसरा पदार्थ हो सकता है (अनुष्ठित सम्पन्न हो सकता है) वह पदार्थ उस दूसरे पदार्थ का अङ्ग उस सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तर की अपेक्षा करके होता है। जैसे उक्त **('बर्हिर्देवसदनंदामि')** मन्त्र लवन का

---

21. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
22. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
23. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्

अङ्गसामान्यसम्बन्ध-बोधकप्रमाणान्तर के द्वारा होता है, मन्त्र के बिना अन्य उपाय से भी लवन का स्मरण करके लवन अनुष्ठित किया जा सकता है, अतः मन्त्रमुख्यतः लवन के स्वरूपनिष्पादन के लिए नहीं होता परन्तु अपूर्व के साधन लवन के प्रकाशन के लिये है।

यदन्तरेण यत्सम्भवति तस्य तदर्थत्वं तदपेक्षम्, यथा- उक्तस्य मन्त्रस्य लवनाङ्गत्वम्। लवनं हि मन्त्रं विनाप्युपायान्तरेण स्मृत्वा कर्तुं शक्यम्, अतो न मन्त्रोलवनस्वरूपार्थस्सम्भवति, किन्त्वपूर्वसाधनीभूतलवनप्रकाशनार्थः।[24]

समाख्यारूपसामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणसापेक्ष लिङ्ग- **पूषानुमन्त्रण** मन्त्रों को **'यागानुमन्त्रण'** मन्त्र भी कहा जाता है अथवा **'पूषानुमन्त्रण'** मन्त्रों की समाख्या **'यागानुमन्त्रण'** भी है इस समाख्या के द्वारा यह समझा जाता है कि **'पूषानुमन्त्रण'** मन्त्रों का यागसामान्य से सम्बद्ध हैं **'पुष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्'** मन्त्रगत सामर्थ्य पूष्णः शब्द की शक्ति लिङ्ग से यह सिद्ध हो जाता है कि पूषानुमन्त्रणमन्त्रपुषयाग से सम्बद्ध है- पुषयाग का अङ्ग है।

पूषानुमन्त्रणमन्त्राणां तु यागानुमन्त्रणसमाख्यया यागसामान्यसम्बन्धेऽवगते सामर्थ्यात्पूषयाग सम्बन्धोऽवगम्यते।[25]

लिङ्गप्रमाण का वाक्यादि से प्राबल्य- और यह लिङ्ग वाक्य, प्रकरण, स्थान व समाख्या से बलवान् है। -**तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्।**[26]

वे वाक्यादि साक्षात् विनियोजक अर्थात् अङ्गाङ्गिभावबोधक नहीं होते किन्तु लिङ्ग एवं श्रुति की कल्पना करके विनियोजक होते हैं। -**तेषां हि न साक्षाद्वि-नियोजकत्वम्, किंतु लिङ्गं श्रुतिश्च कल्पयित्वा।**[27]

न चासमर्थस्य श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोगकल्पना।
सम्भवतीति समर्थस्यापि कल्प्यत्वेनोपजीव्यत्वात्॥

अतः तैर्यावत्सामर्थ्यं कल्पयित्वा श्रुतिः कल्प्यते तावदेव क्लृप्तेन सामर्थ्येन श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोगः क्रियत इति तस्य प्राबल्यम् (लिङ्गस्य प्राबल्यम्)।[28]

'वाक्य से विनियोग पक्ष' का क्रम-

1. वाक्य से लिङ्ग की कल्पना (सामर्थ्यकल्पना)

---

24. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
25. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
26. अर्थसंग्रहलिङ्गनिर्वचनम्
27. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्
28. मीमांसान्यायप्रकाशलिङ्गनिरूपणम्

2. लिङ्ग से श्रुति की कल्पना (श्रुतिकल्पना)

3. श्रुति से विनियोग

जबकि लिङ्ग से विनियोग पक्ष का क्रम

1. लिङ्ग से श्रुति की कल्पना (सामर्थ्येन श्रुतिकल्पना)

2. श्रुति से विनियोग (विनियोग)

लिङ्ग का प्राबल्य दिखाते हुए शास्त्रदीपिकाकार लिखते हैं-

वाक्येन प्रथमं लिङ्गं कल्पयित्वा ततः श्रुति।
कल्पनीयेत्यतो वाक्याच्छ्रुत्यर्थो विप्रकृष्यते।
सन्निकृष्टस्तु लिङ्गस्य तेनैतत् प्रबलं ततः।।[29]

लिङ्ग द्वारा विनियोग मानने में लिङ्ग, श्रुति एवं विनियोग इन तीन व्यापारों की आवश्यकता होती है। जबकि वाक्यद्वारा विनियोग मानने पर वाक्य, लिङ्ग, श्रुति एवं विनियोग इन चार व्यापारों की आवश्यकता होती है। अतः स्पष्ट है कि लिङ्ग एवं विनियोग के बीच लिङ्ग एवं श्रुति इन दो व्यापारों का व्यवधान है। इस प्रकार वाक्य विनियोग बोध में अपेक्षाकृत विप्रकृष्ट है एवं लिङ्ग सन्निकृष्ट। अतएव लिङ्ग द्वारा विनियोग होगा वाक्य द्वारा नहीं इसलिये **'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि'** यह पूर्वार्द्धमन्त्र 'पुरोडाश के सदनकरण' का अङ्ग लिङ्ग से होता है।

इस विषयक जैमिनीयन्यायमालाविस्तर प्रकरण भी द्रष्टव्य है।

स्योनं त इति पूर्वार्द्धं तस्मिन् सीदेति चोत्तरम्।
सदने सादने चायं सर्वोऽथार्थे व्यवस्थिते।।

तच्छब्दादेकवाक्यत्वे भवेदाद्यः श्रुतिं प्रति।
लिङ्गस्य सन्निकृष्टत्वाद्वाक्यबाधे व्यवस्थितिः।।[30]

29. शास्त्रदीपिका 3/3/7

30. जैमिनीयन्यायमालाविस्तर,3/3/8

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (37-48) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

स्वास्थ्य संवर्धन में अन्नमयकोश एवं प्राणमयकोश की भूमिका : एक विवेचनात्मक अध्ययन

सुरेन्द्र*

प्रो. महावीर अग्रवाल**

शोध सारांश-

प्रस्तुत शोधकार्य सैद्धांतिक रूप से अन्नमयकोश एवं प्राणमयकोश की स्वास्थ्य संवर्धन में भूमिका के आकलन हेतु किया गया एक विवेचनात्मक अध्ययन है। योगदर्शन की मान्यतानुसार मानव शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूपी तीन शरीरों का संगठन है। पंचकोश का तीन शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर) से विशिष्ट सम्बन्ध होता है। योगग्रंथ के अनुसार, जब भी अन्नमय कोश मनोमय कोश में किसी भी प्रकार की असंतुलन शुरू होती है तो शरीर और मन की गतिविधियाँ बाधित होती है। इनका असंतुलन जब बहुत अधिक हो जाती है तो प्राणमयकोश में भी असन्तुलन प्रारम्भ हो जाता है। प्राणमयकोश में प्राण का प्रवाह सुचारू रूप से होता है। यह प्राणमयकोश भी अन्नमयकोश पर निर्भर करता है। जब प्राणमय कोश में असन्तुलन होता है तब अन्नमयकोश में असंतुलन स्थिति उत्पन्न होती है। और जिसके परिणामस्वरूप रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

अतएव, प्रस्तुत शोध के निष्कर्ष अनुसार 'अन्नमय कोश' के समुचित विकास व पोषण हेतु सदैव सात्विक और पथ्य आहार का सेवन करना चाहिए। सात्विक भोजन शरीर को रोगों से दूर रखता है। यह सात्विक व पथ्य आहार अत्यन्त पौष्टिक होते हैं एवं आवश्यक मात्रा में शरीर व मन को पोषण देते है।

स्वास्थ्य को सदैव अच्छा बनाए रखते हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए हम औषधि उचित मात्रा में व संतुलित रूप से आहार का सेवन करें। अन्नमय कोश को स्वस्थ बनाए रखने हेतु अभ्यंग, तत्व शुद्धि, उपवास, तप, औषधि, आहार, आसन, शुद्धि क्रियाएं व पंचकर्म जैसे उपायों को अपनी दिनचर्या में स्थान देना चाहिए।

---

* पी-एच.डी. शोध छात्र, पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड।

** प्रतिकुलपति, पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड।

जीवनशक्ति व ऊर्जा के स्रोत स्वरूप पंचकोश की आवश्यक दूसरी परत 'प्राणमय कोश' को प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध के माध्यम से परिष्कृत किया जाता है। प्राण ही जीवन को संचालित करता है। अतः अन्नमय कोश के समान ही प्राणमय कोश को स्वस्थ बनाए रखने हेतु संतुलित आहार के साथ-साथ प्राणायाम, मंत्रजप, एवं मौन के अभ्यास को अपनी दिनचर्या में प्रमुख स्थान देना चाहिए। अन्नमय एवं प्राणमय कोश के सामंजस्यपूर्ण कार्य करने से व्यक्ति मनोशारीरिक रूप से स्वस्थ, तेजस्वी, ओजवान, व प्राणवान बनता है।

कूट शब्द-योग, पंचकोश, अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, स्वास्थ्य।

1. प्रस्तावना-यजुर्वेद के तैत्तिरीयोपनिषद् के अर्न्तगत पंचकोश का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में पंचकोश का उल्लेख गुरु वरुण और उनके पुत्र भृगु के मध्य का संवाद है।[1] पंचकोश का विभाजन तीन भागों में किया गया है जिनसे तीन शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर) का निर्माण होता है जैसे-स्थूल शरीर अन्नमयकोश व प्राणमयकोश से निर्मित होता है, सूक्ष्म शरीर मनोमयकोश व विज्ञानमयकोश से निर्मित होता है, कारण शरीर आनन्दमयकोश से निर्मित होता है।[2] जीवन को संचालित करने हेतु प्राण सर्वाधिक महत्व रखता है। जो कि मन व शरीर को एक साथ बांधता भी है तथा चेतना का सशक्तिकरण भी करता है। यह मानव को तीनों गुणों-रज (कर्म), तम (जड़ता) व सत्व 'संतुलन' से भर देता है। प्राण को शरीर का ऊर्जा भी कहा जाता है। जिस प्रकार गर्भ में पल रहे बच्चे को गर्भनाल जीवन देती है उसी प्रकार श्वास भी मनुष्य के अंदर पांच कोश के आवरण से ढकीं आत्मा को पोषण देने का कार्य करती है।[3] योग शरीर के पाँच स्तरों को मानता है। इन पाँच स्तरों को पंचकोश कहा जाता है। ये पंच कोश मिलकर सम्पूर्ण मानव अथवा 'स्व' का प्रतिनिधित्व करते हैं।[4]

यद्यपि, सदाचारी जीवन जीने से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्तर पर समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। अतः नियमपूर्वक जीवनशैली से जिसमें शुद्ध व

---

1. गम्भीरानन्द, एस., (1986), *तैत्तिरीय उपनिषद्*, कलकत्ता: अद्वैत आश्रम।
2. शास्त्री, ऐ. के. वी., (2015), *उपनिषत्सञ्चयनम् तैत्तिरीयोपनिषद्*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिश्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, सूत्र संख्या 474, पृष्ठ संख्या 474।
3. रविराज, पी., और रयाली, ए., (2023), प्राणमय कोश के संदर्भ में प्राणवायु और प्राणवाह स्रोत की फिजियोलॉजी की खोज, *आयुषः इंटर्नेशनल रिसर्च जर्नल ऑफ आयुर्वेद टीचर्स एसोसिएशन*, 2(2)।
4. पार्चर, ई., (2016), *कोशः प्रामाणिक स्व तक पहुँचने के लिए एक मार्गदर्शिका*, योग एण्ड इटिंग डिसॉर्डर, रूटलेज, पृष्ठ संख्या-33-42।

संतुलित आहार खाने से व प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध से अन्नमय व प्राणमय को मजबूत बनते हैं। इसी प्रकार शुद्ध चिंतन व मनन से मनोमय कोश और विज्ञानमयकोश मजबूत होते हैं। सदृशत: ध्यान व अन्य उच्च यौगिक अभ्यासों से आनन्दमय कोश परिष्कृत होते हैं। सभी पंचकोशों के सामंजस्यपूर्ण कार्य करने से व्यक्ति पूर्णत: स्वस्थ, तेजस्वी, व ओजवान बनता है।[5], तैत्तरीय उपनिषद् अनुसार इन पंचकोश में प्रथम-अन्नमय कोश, यह भौतिक शरीर से सम्बन्धित होता है। द्वितीय-प्राणमय कोश, यह प्राणिक शरीर (ऊर्जा का आयाम) से सम्बन्धित होता है। तृतीय-मनोमय कोश, यह मानसिक शरीर से सम्बन्धित होता है। चतुर्थ-विज्ञानमय कोश, इसे विज्ञान या अर्न्तज्ञान है। पंचम-आनंदमय कोश, यह आनंद की अनुभूति है (चित्र-1)।[6-7]

चित्र-1: मानव शरीर स्थित पंचकोश

योग ग्रंथ के अनुसार, जब भी अन्नमय कोश या प्राणमय कोश में असंतुलन शुरु होता है तो शरीर और मन की गतिविधियाँ बाधित होती हैं। इनका असंतुलन जब बहुत अधिक हो जाता है तो मनोमय कोश में भी असन्तुलन प्रारम्भ हो जाता है। प्राणमय कोश के अन्तर्गत संपूर्ण शरीर में प्राण का प्रवाह सुचारु रूप से होता है। यह प्राणमय कोश अन्नमय कोश पर निर्भर करता है। जब प्राणमय कोश में असन्तुलन होता है तब अन्नमय कोश में कम पाचन की स्थिति उत्पन्न होती है।

---

5. बंसल, बी., और पात्रा, एस., (2017), अन्नमय कोश-प्राचीन और आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से। *इन्टर्नेशनल जर्नल ऑफ योग एंड अलाइड साइंसेज*, (6, 263-265।
6. चिन्मयानन्द, एस., (2014), *तैत्तिरीय उपनिषद्*, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट।
7. सत्पथी, बी., (2018), व्यक्तित्व का पंचकोश सिद्धांत, द *इन्टर्नेशनल जर्नल ऑफ इंडियन साइकोलॉजी*, 6 (2), 33-38।

जिसके परिणामस्वरूप रोग उत्पन्न होते हैं। अन्नमय कोश और प्राणमय कोश में असन्तुलन की शृंखला प्रतिक्रिया का एक और परिणाम मनोमय कोश में असन्तुलन होता है, जो कि अंत में विज्ञानमय और आनंदमय कोश को बाधित करता है। यह व्यक्ति की निर्णय क्षमता पर प्रभाव डालता है तथा व्यक्ति को तनाव, चिंता, अवसाद जैसी मानसिक विकारों की समस्या से ग्रस्त कर देता है। इसके अतिरिक्त शरीर में कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।[8-9]

आधुनिक स्वास्थ्य अध्ययनों ने प्रमाणित किया है कि मधुमेह, कैंसर, पेप्टिक अल्सर, गठिया, पाचन विकार जैसी 80 प्रतिशत से अधिक बीमारियाँ आधिजा व्याधि के अर्न्तगत आती है। यह शरीर और मन के द्वारा उत्पन्न होती हैं तथा पंचकोश से सम्बन्धित होती हैं।[10-11] अतः इन बीमारियों को शरीर व मन संतुलित कर दूर किया जा सकता है। जब इस संसारिक मोह-माया से व्यक्ति गुजरता है और इन सब के कारण मन या मनोमयकोश में भ्रम, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा व असंतोष जैसे गुण उत्पन्न होते हैं और लम्बे समय तक मन के इन गुणों से ग्रस्त होने के कारण बीमारी उत्पन्न होती है। जो कि बीमारी के रूप में भौतिक शरीर तक भी पहुच जाती है। मन और शरीर का अर्थात् अन्नमय कोश एवं मनोमय को एक सिक्के के दो पहलू मानते हैं। अतः मन के अशांत होने से शरीर और शरीर में कोई व्याधि होने पर मन प्रभावित होता है। इसी प्रकार प्राणमय कोश को शरीर व मन के भीतर पुल की भांति देखा जाता है इसमें ज्ञान या बुद्धि का संचालन होता है। यह विचार प्रक्रिया के माध्यम से मन को नियंत्रित करता है। विज्ञानमयकोश शरीर में रोगों हेतु जिम्मेदार माना जाता है तथा आनन्दमय कोश में आनन्द की मूल अवस्था के कारण यह भी समग्र स्वास्थ्य का हिस्सा माना जाता है।[12]

---

8. महेशानन्द, एस., (1999), *शिवसंहिताः एक आलोचनात्मक संस्करण*, तृतीय पटल-ईश्वर उवाच, कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग मन्दिर समिति, लोनावला, पुणे, महाराष्ट्र।
9. सरस्वती, एस.एस., (2006), *आसन प्राणायाम मुद्रा बन्ध*, प्रारम्भिक आसन समूह-पवनमुक्तासन समूह भाग-1, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत।
10. पालन, बी.एम., (2018), मानसिक स्वास्थ्य प्रबंधन में "पंच-कोश" शुद्धिः उम्रदराज महिलाओं के संदर्भ में, मानसिक स्वास्थ्य और उम्रदराज महिलाएँ : महतपूर्ण सहसंबंध, 449।
11. शर्मा, डी., (2023), पाँचकोश की दृष्टि से स्वास्थ्य, *इन्टर्नेशनल जर्नल ऑफ योग एंड अलाइड साइंसेज*, 12(2), 225-230।
12. चिन्मयानन्द, एस., (2014), *तैत्तिरीय उपनिषद्*, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट।

2. अन्नमयकोश की अवधारणा, विकास एवं पोषण, तथा स्वास्थ्य सिद्धान्त।

2.1 अन्नमय कोश की अवधारणा

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथ्वींश्रिताः।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः॥

(तैत्तिरीय उपनिषद् 2/1)

अर्थात् 'अन्न' से तात्पर्य है 'भोजन'। तैत्तरीय उपनिषद् में अन्न को औषधि के समान बताया गया है। आहार अन्नमय कोश से सम्बन्धित होता है जो कि स्थूल शरीर का प्रतिनिधित्व करता है। आहार की अवधारणा के अनुसार, संसार के सभी प्राणियों की उत्पत्ति अन्न से हुई है तथा वे जीवनपर्यन्त अन्न ही ग्रहण करते हैं इसके बाद जीवन समाप्त होने पर उस मृत शरीर को कीड़े व अन्य जीव जन्तु अन्न के रूप में उपभोग करते हैं। आहार यदि उचित मात्रा में व संतुलित रूप से लिया जाए तो वह शरीर में औषधि के रूप में कार्य करता है जिससे व्यक्ति को समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।[13]

पुरातन साहित्य में अन्न की विभिन्न प्रकार की व्युपत्तियां पाई जाती हैं, जैसे-शब्दस्तोम महानिधि के अनुसार "आहार वह पदार्थ है जो शरीर का निर्माण करता है।" इसी तरह वैद्यक शब्दसिंधु के अनुसार "कोई भी पदार्थ जो गले से होकर गुजरता है आहार कहलाता है।" वहीं यजुर्वेद 11.83 मंत्र के अनुसार- **"अन्नप॒तेऽन्नस्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिण॑ः।"** अर्थात्, यजुर्वेद के एक सूत्र द्वारा आहार के बारे में कहा गया है कि "अन्न ऐसा होना चाहिए जिससे शरीर में कोई रोग न पनप सके और ताकत भी मिले।"[14] सदृशतः मनुस्मृति 4/62 श्लोक के अनुसार, **"न भुजीतोद्धुतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्। नातिप्रगे नतिसायं न सायं प्रातराशितः।"** अर्थात् मनु के अनुसार घी और तेल के बिना भोजन नहीं करना चाहिए। अधिक भोजन नहीं करना चाहिए इसी प्रकार सूर्य अस्त होने के बाद और सूर्य उदय से पहले भोजन नहीं करना चाहिए। दोपहर में भारी भोजन करने के बाद सायं को भोजन नही करना चाहिए।[15] विष्णु पुराण में **"जठरं पूरयेदर्धं तदर्धं तु जलेन च। वायोः संचरणार्थाय चतुर्थभवशेशयेत्॥"** अर्थात् जब भोजन का सेवन करें तो आधे पेट ही भोजन ग्रहण करें, शेष बचे आधे पेट में एक चौथाई जगह पानी हेतु तथा अन्य एक चौथाई स्थान को पाचन क्रिया के लिए रिक्त छोड़ दें।[16] इसी प्रकार

---

13. चिन्मयानन्द, एस., (2014), *तैत्तिरीय उपनिषद्*, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट।
14. पिपरैया, आर.के., (2003), *चार वेदों के दस उपनिषद्*, मोतीलाल बनारसीदास।
15. मनु, ए., (2020), *मनुस्मृति*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
16. विनय, (1999), *विष्णु पुराण*, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली।

श्रीमद्भगवद् गीता के सत्रहवें अध्याय के आठवें श्लोक में आहार के बारे मे चर्चा की गई है जिसमें खाद्य पदार्थों को पाचन के आधार पर तीन श्रेणियों तामसिक, राजसिक व सात्विक में बांटा गया है। सात्विक आहार के सम्बन्ध में श्लोक है कि **"आयुःसत्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्या आहारा सात्विकप्रियाः॥"** (श्रीमद्भगवद्गीता-17/8) श्लोकानुसार, सात्विक आहार का स्वभाव या प्रकृति रसयुक्त, वसायुक्त, पौष्टिक, चिकने, स्थिर रहने वाले व स्वादिष्ट होती है। यह आहार आयुवर्धक, बुद्धिवर्धक, अरोग्यदायक, सुख व प्रीति वर्धक होता है।[17] राजसिक आहार के सम्बन्ध में वर्णन मिलता हैं कि **"कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरुक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥"** (श्रीमद्भगवद्गीता-17/9) अर्थात्, राजसिक आहार की स्वभाव या प्रकृति कड़वे, खट्टे, तीखे, रूखे, लवण युक्त, बहुत गर्म और जलनयुक्त प्रकार के होते हैं। जो व्यक्ति आवेशी प्रकृति के होते हैं यह उनको प्रिय होते हैं। यह आहार व्यक्ति के लिए दुःख उत्पादक, चिन्ता उत्पादक व रोग उत्पादक साबित होते हैं तथा आलस्य को बढ़ावा देते हैं।[18] अन्ततः तामसिक आहार के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि **"यातयामं गतरसं पूति पर्युशितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम॥** (श्रीमद्भगवद्-गीता-17/10), अर्थात् तामसिक आहार का स्वभाव या प्रकृति नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा, बेस्वाद या अपवित्र प्रकार का होता है। यह भोजन तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों का प्रिय होता है।[19]

आहार स्वयं में औषधि है क्योंकि उचित आहार के द्वारा शरीरगत त्रिदोषों के असंतुलन से बचा जा सकता है। वेदों के अनुसार आहार को जीवन कहा गया है। आहार जीवन जीने हेतु महत्त्वपूर्ण कारक है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि "यथा अन्नम् तथा मनः" अर्थात् जो साधक जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसका मन हो जाता है। अतः योगी को वही भोजन ग्रहण करना चाहिए जो उसके शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास में सहायक हो। चरक संहिता के अनुसार "आहार द्रव्य पंचभौतिक हैं। पृथ्वी तल पर सूर्य के ताप तथा जलवायु की सहायता से प्रकृति के उत्पन्न किये हुए शरीरोपयोगी द्रव्य ही आहार हैं।" आचार्य गंगाधर द्वारा चरक संहिता पर की गयी टीका के सूत्रस्थान के 11/15 श्लोकानुसार- "जिह्वा

17. स्वरूपानन्द, एस., (2016), *श्रीमद्भगवद् गीता*, अद्वैत आश्रम (ए पब्लिकेशन ब्रांच ऑफ रामकृष्ण मठ, बैलुर मठ)।
18. सरस्वती, पी.एस.एस.बी., महाराजा, जी., और देवा, एस.बी.आर.एस., (2012), *श्रीमद्भगवद्-गीता*, चेन्नई आर्शा विद्या रिसर्च एंड पब्लिकेशन ट्रस्ट।
19. स्वरूपानन्द, एस., (2016), *श्रीमद्भगवद्गीता*, अद्वैत आश्रम (ए पब्लिकेशन ब्रांच ऑफ रामकृष्ण मठ, बैलुर मठ)।

ह्यहरणं आहार:" अर्थात्, वह सामग्री जो जिव्हा के द्वारा गले के नीचे तक उतारा जाए वह भाग ही आहार है। भगवान धन्वन्तरी के अनुसार- "प्राणियों के बल, वीर्य और ओज का मूल आहार है" -दोष वृद्धि, दोष क्षरण, दोष समता, आहार के रस-गुण-विपाक और वीर्य के कारण हुआ करती है। आहार से शारीरिक वृद्धि, आरोग्य, बल, वीर्य और इन्द्रियों की प्रसन्नता उत्पन्न होती है एवं आहार की विषमता से रोग उत्पन्न होते हैं। जिसमें पेय, भोज्य, भक्ष्य और लेह्य ये चार प्रकार हैं। जो विभिन्न द्रव्यों से बने हुए हैं, जिनके सेवन से शरीर में बहुविध शक्ति उत्पन्न होती है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार- "समस्त जीव मात्र का मूल आहार है।" भगवान आत्रेय के अनुसार- "अन्नं वै प्राणिनां प्राणा:।" इष्ट वर्ण गन्धरसस्पर्शयुक्त विधि विहित अन्न पान को प्राणधारियों का 'प्राण' कहा है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि उक्त गुणों की सम्पन्नता वाले भोजन से ही अन्तराग्नि-कायाग्नि की स्थिति है। उक्त गुण सम्पन्न भोजन से ही हमारी इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं। शरीर धातु पुष्ट होता है, बल बढ़ता है और सत्व का वर्धन होता है। अन्नमयकोश भोजन के जड़ पदार्थ से बना होता है और बाद में पुन: मिट्टी में मिल जाता है।[20]

2.2 अन्नमय कोश का विकास एवं पोषण

अन्नमय कोश के समुचित विकास व पोषण हेतु सदैव सात्विक व पथ्य आहार का सेवन करना चाहिए। सात्विक भोजन शरीर को रोगों से दूर रखता है। यह खाद्य पदार्थ अत्यन्त पौष्टिक होते हैं एवं आवश्यक मात्रा में शरीर व मन को पोषण देते हैं और स्वास्थ्य को सदैव अच्छा बनाए रखते हैं। जिन व्यक्तियों के द्वारा तामसिक भोजन ग्रहण किया जाता है उनमें नकारात्मक ऊर्जा आती है और उनका आंतरिक शरीर कमजोर होता है। अत: आहार में सदैव पथ्य आहार ही लेना चाहिए जो कि अन्नमय कोश का विकास एवं पोषण हेतु आवश्यक है। आयुर्वेद में खाने से सम्बन्धित कुछ शिष्टाचार भी बताए गए हैं जो इस प्रकार हैं-

"तत्रेदमाहारवित्रिविधानम् रोगाणामातुराणां चापि केशांश्चित् काले प्रकृत्यैव हिततमं भुजानानां भवति-उष्णं, स्निग्धं मात्रावत्, जीर्णे, वीर्याविरुद्धम, इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं, नातिद्रुतं, नातिविलम्बितम्, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुञ्जित, आत्मानमभिसमीक्ष्यसम्यक्॥" (चरक संहिता, विमान स्थान, 1/24)

अर्थात् चरक संहिता ग्रन्थ के विमान स्थान में मनुष्य हेतु आहार के बारे में बताते हुए आचार्य चरक ने 24 वें सूत्र के द्वारा बताया है कि आहार निम्न प्रकार

---

20. शास्त्री, ऐ.के.वी., (2015), *उपनिषत्सञ्चयनम्: तैत्तिरीयोपनिषद्:*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर, दिल्ली, सूत्र संख्या 474, पृष्ठ संख्या 474।

के गुण वाला होना चाहिए-जैसे-भोजन ऊष्ण गुण वाला होना चाहिए। भोजन स्निग्ध गुण वाला होना चाहिए। भोजन उचित मात्रा में करना चाहिए। पिछले किए गए भोजन के पचने के उपरांत ही दोबारा भोजन करना चाहिए। शक्ति में विरोधाभासी नहीं होना चाहिए अर्थात् विरुद्ध आहार। 'भोजन अधिक तेज नहीं खाना चाहिए। भोजन अधिक धीमी गति से नहीं खाना चाहिए। भोजन बिना बात किए करना चाहिए। भोजन करते समय हंसना नही चाहिए। भोजन एकाग्र मन से करना चाहिए। स्वयं का उचित सम्मान करते हुए भोजन करना चाहिए।[21-22]

इसी प्रकार प्रमुख आयुर्वेदीय ग्रंथ अष्टांग हृदयम् के सूत्र स्थान के 35 से 38वें सूत्र में अन्नमय कोष के पोषण एवं संतुलन हेतु आहार नियम व्यवस्था अग्रानुरूप बताई गई हैं-

"काले सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः॥ षड् रसं मधुरप्रायं नाति द्रुतम् विलम्बितम्। स्नातः क्षुद्वान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः। तर्पयित्वा पितृन् देवानतिथीन् बालकान् गुरून्। प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽअपि प्रतिपन्नपरिग्रहान॥ समीक्ष्य सम्यगात्मानम निन्दन्नब्रुवन् द्रवम्। इष्ट मिष्टैः सहाश्नीयाच्छुचि-भक्तजनाहृतम्" (अष्टांग हृदयम्, सूत्र स्थान, 8/35-38)। अर्थात् आहार सेवन के समय मन एकदम शांत व प्रसन्न होना चाहिए। आहार उचित समय पर होना चाहिए। आहार स्वच्छता पूर्ण बना होना चाहिए। आहार में सभी प्रकार के स्वाद का मिश्रण हो और मीठा अवश्य शामिल हो। भोजन ताजा हो परन्तु यह न अधिक गर्म हो और न ही अधिक ठंडा। भोजन में सभी पौष्टिक तत्व मौजूद होने चाहिए। भोजन स्नानादि उपरांत ही करना चाहिए। भोजन करने की गति बहुत अधिक तेज या धीमी न हो। स्वस्थ जीवनशैली अपनाकर खान-पान की आदतों को सुधारना। संतुलित व स्वस्थ आहार का सेवन करना। शारीरिक व्यायाम जैसे चलना, दौड़ना, यौगिक आसन आदि करना[23]।

2.3 अन्नमय कोश के स्वास्थ्य सिद्धान्त

अन्नमय कोश से स्थूल शरीर बनता है जिसे भौतिक शरीर कहते हैं। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियां व पांच कर्मेन्द्रियां शामिल होती हैं। अन्नमय कोश को नीचे बताए जा

---

21. शास्त्री, के., (2012), *चरकसंहिता*, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, विमान स्थान, 1/24।
22. पात्रा, एस., (2017), सूक्ष्म शरीर हमारी समझ से परे है, *इन्टर्नेशनल जर्नल ऑफ योग-फिलॉसफी*, साइकोलॉजी, एंड पैरासाइकोलॉजी, 5(2), 29-34।
23. त्रिपाठी, बी., (2020), *अष्टांग हृदयम्*, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सूत्र स्थान, 8/35-38।

रहे अभ्यंग, तत्व शुद्धि, उपवास, तप, औषधि, आहार, आसन, शुद्धि क्रियाएं व पंचकर्म जैसे तरीकों के माध्यम से स्वस्थ बनाए रखा जा सकता है।[24-25]

औषधि : औषधि के रूप में जड़ी बूटियों का प्रयोग मानव शरीर प्रणाली को स्वस्थ रख ऊर्जा प्रदान करता है। जड़ी-बूटियां शरीर की आन्तरिक सफाई के साथ-साथ पोषण प्रदान करने का भी कार्य करती है।

आहार : आहार मनुष्य शरीर में शरीर को ऊर्जा देने का कार्य करता है, वह शरीर की टूट-फूट की मरम्मत करता है तथा शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि करता है। यौगिक शास्त्रों में आहार के बारे में बताया गया है कि भोजन का जो स्थूल भाग होता है वह पंचकोशों के सबसे बाहरी आवरण अन्नमय कोश का पोषण करता है एवं भोजन का जो सूक्ष्म भाग होता है वह प्राणमय और मनोमय कोश को पोषित करता है।

आसन : शारीरिक मुद्राओं या आसन के अभ्यास से शरीर व मन में एक विश्राम व शांति की स्थिति उत्पन्न होती है जो कि शरीर को पुनर्जीवित करती है।

शुद्धि क्रियाएँ : योग अभ्यास के रूप में बताई गई छः शुद्धि क्रियाओं के द्वारा शरीर के सभी अंगों की शुद्धि होती है जिससे अंग सक्रिय होकर सुचारू रूप से कार्य करते हैं।

पंचकर्म : आयुर्वेद में बताई गई पांच शुद्धि क्रियाओं वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य और रक्त मोक्षण के द्वारा नाड़ी संस्थान की सफाई की जाती है जो कि अन्नमय कोश को स्वस्थ रखने में उपयोगी साबित होती हैं।

3. प्राणमयकोश की अवधारणा, विकास एवं पोषण, तथा स्वास्थ्य सिद्धान्त

3.1 प्राणमय कोश की अवधारणा

"तस्माद्वा एतस्मादन्नरससमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।" (तैत्तिरीय उपनिषद् 2/2), अर्थात् प्राणमय कोश पंचकोश की दूसरी परत है जिसमें प्राण शब्द से तात्पर्य है ऊर्जा का स्त्रोत। ऊर्जा की आवश्यकता शरीर में सभी कार्यों के लिए आवश्यक ही होती है। जिसमें प्राण का मुख्य कार्य श्वसन क्रिया, दिल की धड़कन, पाचन व

24. साथियासीलन, बी. और साथियासीलन, ए., (2016), उपनिषदों के पंचकोश सिद्धांत के साथ मास्लो के आवश्यकताओं के पदानुक्रम के सिद्धांत की तुलना। अर्थ जर्नल ऑफ सोशल साइंजेस, 15(1), 59-68।
25. वल्सल कुमार, सी., श्रीधर, एम. के., और नागेन्द्र, एच. आर., (2024), व्यक्तिगत खुशी, मानसिक स्वास्थ्य और कल्याण को बढ़ाने में योग और तैत्तिरीयोपनिषद की भूमिका और प्रभाव, *एटोमिक स्पेक्ट्रोस्कोपी,-पार्ट सी*, 45(1), 150-164।

परिसंचरण का नियंत्रण है। तैत्तिरीय उपनिषद् में प्राणमय कोश के बारे में बताया गया है कि यह अन्नमय कोश के समान ही कोश की आत्मा के समान है। यदि किसी भी क्षण शरीर में प्राण ऊर्जा का संचालन न हो तो शरीर की सभी गतिविधियां समाप्त हो जाती हैं। आयुर्वेद में एक शारीरिक प्रणाली के रूप में वर्णित पांच प्राण मौलिक प्राणमयकोश का प्रतिनिधित्व करते हैं।[26-27]

इस प्राणमय कोश से युक्त पांच प्राणों का वर्णन इस प्रकार है-धारणा की भावना (प्राण)-प्राण मानव शरीर में पांच इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वातावरण से प्राप्त पांच प्रकार की उत्तेजनाओं का नियंत्रण करता है। उत्सर्जन की भावना (अपान)-अपान मानव शरीर में मल, मूत्र व पसीने जैसे अपशिष्ट पदार्थों से सम्बन्धित होता है। पाचन की भावना (समान)-समान मानव शरीर में पाचन संस्थान अर्थात् पाचन तंत्र का नियंत्रण करता है। परिसंचरण की भावना (व्यान)-व्यान वह प्राकृतिक तरीका है जिसमें हमारे द्वारा खाया गया सारा पोषक तत्व (भोजन का पोषण) रक्तवाह स्रोत (रक्तप्रवाह) के माध्यम से हमारे शरीर के विभिन्न भागों में चला जाता है। मूल्यांकन की भावना (उदान)-उदान व्यक्ति के द्वारा किसी विचार के नए विकास या निर्माण की संभावना की कल्पना करने के लिए अपने विचारों को उच्च अंश तक बढ़ाने की भावना है।

3.2 प्राणमय कोश की स्वास्थ्य धारणाएँ

प्राणमय कोश महत्वपूर्ण जीवन शक्ति है जो शरीर के आंतरिक और बाहरी जीवन के लिए मूल ऊर्जा है। प्राणमय कोश के माध्यम से कोशिकाओं में प्राण का एकसमान प्रवाह शरीर को स्वस्थ रखता है। प्राणमय कोश ऊर्जा का कोश है। किसी भी भाग में निरन्तर प्रवाह की कमी के कारण वह शिथिल होने लगता है। प्राणमय कोश के असंतुलन को प्राणायाम, शोधन क्रिया एवं उचित श्वास अभ्यासों के माध्यम से संतुलित किया जा सकता है। प्राणायाम कंपकंपी, उच्च रक्तचाप, अव्यवस्थित श्वास, धड़कन, अतिसंवेदनशील प्रतिक्रिया और अति सक्रियता जैसे कार्यात्मक असंतुलन को ठीक करता है। प्राणमय कोश हेतु प्राणायाम, मुद्रा, बंध एवं एक्यूपंक्चर

---

26. पात्रा, एस., (2017), सूक्ष्म शरीर हमारी समझ से परे है, इन्टर्नेशनल जर्नल ऑफ योग-फिलॉसफी, साइकोलॉजी, एंड पैरासाइकोलॉजी, 5(2), 29-34।
27. मान, ए., और सिंह. जे., (2018), मानसिक स्वास्थ्य पर कुंडलिनी योग अभ्यास की प्रभावशीलता, *इन्टर्नेश्नल जर्नल ऑफ फिजियोलॉजी*, न्यूट्रिशन, एंड फिजिकल एजुकेशन, 3(2), 784-788।

बहुत अच्छी चिकित्सा मानी जाती है। एक्यूपंक्चर तकनीकि में ऊर्जा प्रवाह चैनलों में दबाव दे करके ऊर्जा परिवर्तित की जाती है।[28]

3.3 प्राणमय कोश-विकास एवं पोषण

प्राणमयकोश को प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध के माध्यम से परिष्कृत किया जाता है। प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध का अभ्यास प्राणमयकोश को उर्जा देते है और विस्तार करते हैं। आंत के द्वारा प्राणकोश में भोजन के माध्यम से पोषण पहुँचाया जाता है तो वहीं वायु से फेफड़े प्राणकोश में प्राण को पहुँचाते हैं इस प्रकार प्राण शरीर व मन को परिष्कृत करता है। प्राणमय कोश के कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए उसका विकास एवं पोषण अत्यन्त आवश्यक है। अतएव प्राणमय कोश का विकास एवं पोषण निम्न प्रकार किया जा सकता है[29] जैसे-प्राणायाम जैसे विभिन्न श्वास प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए। प्राणमय कोश की उत्कृष्टता के लिए प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध का अभ्यास करना चाहिए। श्वास के प्रति जागरूक रहकर आसनों का अभ्यास करना चाहिए। मौन का अभ्यास करना और सुखदायक मंत्रों का जाप करना चाहिए।

4. निष्कर्ष-

प्रस्तुत शोधकार्य सैद्धांतिक रूप से सम्पन्न अन्नमयकोश एवं प्राणमयकोश की स्वास्थ्य संवर्धन में भूमिका के आकलन हेतु किया गया एक विवेचनात्मक अध्ययन है। जिसके तहत यह देखा गया कि योगदर्शन की मान्यतानुसार मानव शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूपी तीन शरीरों का संगठन है। पंचकोश का तीन शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, व कारण शरीर) से विशिष्ट सम्बन्ध होता है। ये पंचकोश मिलकर सम्पूर्ण मानव अथवा 'स्व' का प्रतिनिधित्व करते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् अनुसार इन पंचकोशों में प्रथम-अन्नमय कोश, यह भौतिक शरीर से संबंधित होता है, व इसे अन्न या भोजन से सम्बन्ध रखता है। द्वितीय-प्राणमय कोश, यह प्राणिक शरीर (ऊर्जा का आयाम) से संबंधित होता है, व इसे प्राण या ऊर्जा के लिए उत्तरदायी माना जाता है। योगग्रंथानुसार, जब भी अन्नमय कोश या मनोमय कोश में किसी भी प्रकार की असंतुलन शुरू होती है, तो शरीर, प्राण और मन की गतिविधियाँ बाधित होती है। इनका असंतुलन जब अधिक हो जाता है तो प्राणमयकोश में भी असन्तुलन प्रारम्भ

---

28. वल्सल कुमार, सी., श्रीधर, एम.के., और नागेन्द्र, एच.आर., (2024), व्यक्तिगत खुशी, मानसिक स्वास्थ्य और कल्याण को बढ़ाने में योग और तैत्तिरीयोपनिषद की भूमिका और प्रभाव, *एटोमिक स्पेक्ट्रोस्कोपी,-पार्ट सी*, 45(1), 150-164।
29. चिन्मयानन्द, एस., (2014), *तैत्तिरीय उपनिषद्*, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट।

हो जाता है। प्राणमयकोश के अर्न्तगत प्राण का प्रवाह सुचारू रूप से होता है। जो अन्नमय कोश पर निर्भर करता है। अन्नमय कोश और प्राणमय कोश आपस में अंतः संबंध रखते हैं। जब प्राणमय कोश में असन्तुलन होता है तब अन्नमय कोश में कम पाचन की स्थिति उत्पन्न होती है। जिसके परिणामस्वरूप रोग उत्पन्न होते हैं। अतएव, प्रस्तुत शोध के निष्कर्षानुसार सदाचारी जीवन जीने से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आध्यात्मिक स्तर पर समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। अतः नियमपूर्वक जीवनशैली से, जिसमें शुद्ध व संतुलित आहार शामिल है का सेवन करने से व प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध के अभ्यास से अन्नमय कोश व प्राणमय कोश को स्वस्थ, परिष्कृत और उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। इस प्रकार व्यक्ति समग्र स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकता है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (49-54) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

बौधायनशुल्बसूत्र में गणितीय अवधारणा : आधुनिक सन्दर्भ

-आयुष नंदन*

-प्रो. दया शंकर तिवारी**

शोध-सार- प्रस्तुत शोधपत्र में बौधायन शुल्बसूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्रों को लेकर उनकी वर्तमान गणितशास्त्रीय परम्परा में योगदान की समीक्षा की जायेगी जिसके अंतर्गत शुल्ब की सहायता से यज्ञवेदि निर्माण में विविध प्रकार के रेखागणितीय सन्दर्भों को उद्घाटित किया जायेगा जिसमें वृत्त, चतुर्भुज, आयत, त्रिभुज आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन भारतीय गणित शास्त्र की परम्परा आज भी पूरे विश्व में प्रासंगिक है जैसे-पाइथागोरस प्रमेय, π का मूल्य, संख्या सिद्धांत आदि के प्रयोग में।

संकेतशब्द- 1. वेदांग 2. कल्प 3. शुल्बसूत्र 4. रेखागणित 5. अंगुल।

परिचय- शुल्बसूत्रों का अध्ययन रेखागणित की प्राचीन भारतीय गणितीय सिद्धांतों की प्रामाणिक जानकारी के लिए अत्यावश्यक है। वस्तुतः शुल्बसूत्र वेदांग में परिगणित होने वाले कल्पसूत्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। वैदिक कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय यज्ञानुष्ठान है, जो मुख्यरूप से श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र के रूप में विभक्त है। श्रुति में वर्णित विविध यज्ञों का श्रौतसूत्रों में विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। उन यज्ञानुष्ठानों को संपन्न करने के लिए वेदि का निर्माण किया जाता है, यह वेदि निर्माणकार्य शुल्बसूत्र पर आश्रित है। शुल्ब का अर्थ है- रज्जु या रज्जु के द्वारा मापी गई। शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र शुल्बसूत्र कात्यायन शुल्बसूत्र है तथा कृष्णयजुर्वेद से सम्बंधित सात शुल्बसूत्र प्राप्त होते हैं- बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, वाधूल, मानव, मैत्रायणीय तथा वाराह।

बौधायन शुल्बसूत्र में मानक इकाई (Standard Unit)-बौधायन शुल्बसूत्र 3 अध्यायों में विभाजित है। बौधायन शुल्बसूत्र के प्रथम अध्याय में पहले सूत्र से लेकर 21 वें सूत्र तक मानक इकाई कि चर्चा की गयी है।

---

* संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

** संस्कृत विभाग, दिल्लीविश्वविद्यालय

अथेमेऽग्निचयाः॥1॥ तेषां भूमेः परिमाणविहारान्व्याख्यास्यामः॥2॥
.....चतुररत्निर्व्यायामः॥21॥[1]

अर्थात्- अब विभिन्न अग्नियों का विन्यास और रचना करना चाहिए। इनके लिए जमीन पर नाप कर तथा अग्नियों के विहार, विन्यास इत्यादि की जानकारी दिया जा रहा है। अङ्गुल का नाप- अंगुल प्रमाण इकाई (Standard Unit) है। 14 अणु के दाने एक दूसरे के सम्पर्क में रखकर अंगुल का नाप प्राप्त होता है। 34 तिल के दाने, मोटाई की दिशा में, एक दूसरे के संपर्क में रखने से अंगुल का नाप प्राप्त होता है- यह अंगुल का दूसरा नाप है। इति अपरम् का अर्थ 'अन्य कई लोगों के मतानुसार' ऐसा भी हो सकता है। दस अंगुलों का एक 'क्षुद्रपद' होता है। बारह अंगुलों का एक 'प्रादेश' होता है। 'पृथ' और 'उत्तरयुग' यह दो नापें 13 अंगुलों की होती है। 'पद' 15 अंगुलों का होता है। 188 अंगुलों की 'ईषा' होती है। 104 अंगुलों का 'अक्ष' होता है। 86 अंगुलों का 'युग' होता है। 32 अंगुलों का 'जानु' होता है। 'शम्या' और 'बाहू' यह दो नापें 36 अंगुलों की होती हैं। दो पदों का यानी 30 अंगुलों का एक 'प्रक्रम' होता है। दो प्रादेशों की यानी 24 अंगुलों की एक 'अरत्नि' होती है। अब नापों के विषय में ऐसे कहा जाता है कि- पद, युग, प्रक्रम, अरलि और शम्या यह नापें यथा काम अर्थात् अपने अनुसार बदल सकती हैं। यह नापें, ऊपर दी गई इकाई अंगुल नाप से लेते हैं तथा काम्य यज्ञों में यजमान के पुरुष नाप से भी लिया सकता हैं। अरत्नियों का 'पुरुष' होता है और चार अरत्नियों का 'व्याम' होता है।[2]

तुलनात्मक अध्ययन- प्राचीन मानक इकाई (Standard Unit) तथा आधुनिक इकाई-ऐसा ज्ञात होता है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में यज्ञ वेदियाँ बनाने हेतु अनेक प्राचीन मानक इकाइयों का प्रयोग होता था, उसी प्रकार से आज आधुनिक युग में भी हम उन प्राचीन मानक इकाइयों का प्रयोग आम तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में माप हेतु करते हैं।

अंगुल का नाप-प्राचीनकाल में अंगुल ही मानक इकाई (Standard Unit) के रूप में माना जाता है। 14 अणुओं का एक अंगुल होता है (14 अणु = 1 अंगुल) तथा 34 तिल के दाने के बराबर 1 अंगुल होता है। 10 अंगुल = 1 क्षुद्रपद, 12 अंगुल= 1 प्रादेश, 13 अंगुल= 1 पृथ या उत्तरयुग, 15 अंगुल= 1 पद, 24 अंगुल (2 प्रादेश) = 1 हस्त, 30 अंगुल (2 पद) = 1 प्रक्रम, 32 अंगुल= 1 जानु, 36 अंगुल=

---

1. बौधायनशुल्बसूत्र 1-21
2. कुलकर्णी, रघुनाथ पुरुषोत्तम, चार शुल्बसूत्र, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003, पृष्ठ संख्या-1-3

1 शम्या या बाहू, 86 अंगुल= 1 युग, 104 अंगुल= 1 अक्ष, 188 अंगुल= 1 ईषा, 4 अरत्नि = 1 व्याम, 5 अरत्नि= 1 पुरुष या व्याम वृत्त निर्माण कि अवधारणा–बौधायन शुल्बसूत्र 3 अध्यायों में विभाजित है। बौधायन शुल्बसूत्र के प्रथम अध्याय में 22वें सूत्र से लेकर 35वें सूत्र तक वृत्त निर्माण के प्रक्रिया के बारे में बताया गया है।

"चतुरस्त्रं चिकीर्षन्यावच्चिकीर्षेत्तावती रज्जुमुभयतः पाशां कृत्वा मध्ये लक्षणं करोति लेखामालिख्य॥ 22॥ .....पृष्ठ्यान्तयोः पाशौ प्रतिमुच्य न्यञ्छनेन दक्षिणापायम्यार्थेन श्रोण्यं सान्निर्हरेत्"॥35॥[3]

अर्थात्– वर्ग खींचने का हो तो इसकी लम्बाई जितनी लम्बी रस्सी लेकर उसके दोनों सिरों को गांठ बांधकर उस रस्सी के लम्बाई के मध्य में चिन्ह करना चाहिए। पूर्व–पश्चिम रेखा जमीन पर खींचकर [आकृति में 1–1] यह रेखा खींचकर मध्य में खुटि ठोकना चाहिए। इसे, रस्सी के दोनों सिरे बांधकर तथा रस्सी के मध्य में किए हुए चिन्ह से वृत्त निकालना चाहिए। वृत्त का परिघ जहाँ पूर्व–पश्चिम रेखा को काटता है वहाँ दो खुटियाँ स्थपित करना चाहिए। अ वृत्त का केन्द्रबिन्दु है। रेखा 1–1 को वृत्त आ और इ पर काटता है। वहाँ खुटियों को ठोकना चाहिए। पूर्व दिशा की खुटि को रस्सी का एक सिर बांधकर दूसरे सिरे से वृत्त खींचना चाहिए। अब शंकु आ केन्द्र लेकर वृत्त 3 निकालेंगें। इस पद्धति से पश्चिम की तरफ वृत्त खींचकर और जहाँ यह दोनों वृत्त एक दूसरे को काटते हैं उन्हें रेखा से जोड़कर दूसरा उत्तर–दक्षिण व्यास प्राप्त करना चाहिए। पश्चिम दिशा की तरफ की इ खुटि को रस्सी का एक सिरा बाँधकर दूसरे सिरे से वृत्त 4 खींचना चाहिए। वृत्त 3 और 4 जहाँ काटते हैं, उन्हें जोड़ने वाली रेखा उत्तर–दक्षिण रेखा होती है। वृत्त को जहाँ यह रेखा काटती है वहाँ दो खुटियाँ ठोकना चाहिए। ई और उ पर खुटियाँ ठोककर पूर्व दिशा की खुटि को रस्सी के दोनों सिरे बाँधकर रस्सी के मध्य चिन्ह से वृत्त निकालना चाहिए। खुटिओं को केन्द्र में लेकर वृत्त 6 निकालना चाहिए। इसी रीति से दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की खुटियाँ केन्द्र मानकर रस्सी के मध्य चिन्ह से वृत्त निकालना चाहिए। ये वृत्त जहाँ एक दूसरे को काटते हैं उन्हें इन बिन्दुओं को जोड़ने से वर्ग प्राप्त होता है।

अब वर्ग खींचने की दूसरी रीति बताया जा रहा है। प्रमाण वर्ग के लम्बाई से दुगनी लम्बी रस्सी लेकर उसके दोनों सिरों पर गांठ बाँधे और रस्सी के मध्य में चिन्ह लगाना चाहिए। प्राची के लम्बाई के लिये किसी भी आकृति के मध्य भाग से जाने वाली पूर्व–पश्चिम रेखा को 'प्राची' कहते है। रस्सी के मध्य चिन्ह से पश्चिम के आधे विभाग पर, चौथाई कम दूरी पर चिन्ह लगाना चाहिए जिसे न्यञ्छन

3. बौधायनशुल्बसूत्र 22–35

कहते हैं। आधे भाग पर अंस के लिये चिह्न लगाना चाहिए। अंस का विन्यास करने के लिये रस्सी के मध्यचिन्ह से पश्चिम के विभाग के आधे भाग दूरी पर चिन्ह लगाना चाहिए। पृष्ठ्या के दोनों अंतो में स्थित खुटियों को रस्सी के दोनों सिरे बाँधकर न्यञ्छन से रस्सी पकड़कर उसे दक्षिण की तरफ खींचें, जहाँ मध्य चिह्न आता है अर्थात् जहाँ पृष्ठ्या से है अंतर होता है, वहाँ श्रोणी होती है। इसी रीति से श्रोणी और अंस का विन्यास करना चाहिए और वर्ग निकालना चाहिए। कोई भी चतुर्भुज के दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम सिरों को श्रोणी कहते हैं और दक्षिण-पूर्व और उत्तर-पूर्व सिरों को अंस कहते हैं।[4]

तुलनात्मक अध्ययन- वृत्त बनाने के दो प्रकार हैं। पहला प्रकार यह है कि एक वर्ग बनाने के लिए हमें दिए गए वर्ग की भुजा के बराबर लंबाई की एक रस्सी लेनी होगी। माना कि दी गई डोरी XY है, और इसके मध्य में U का निशान है। (चित्र.1)

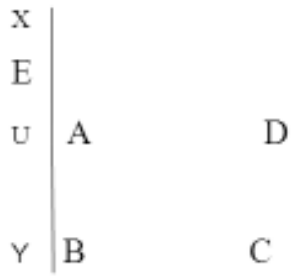

चित्र.1 चित्र.2W

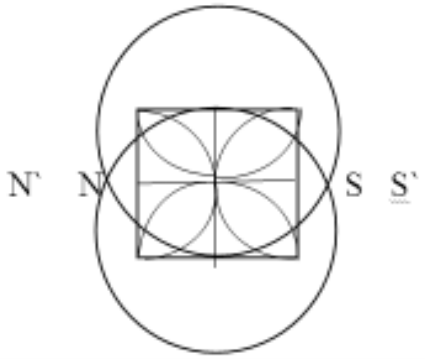

EW, आकृति का प्राची= XY; O, XY के U के अनुरूप प्राप्त EW का मध्य बिंदु है। (चित्र.2)

एक वृत्त जिसका केंद्र O है और त्रिज्या OW है तो EW एक व्यास है। E और W को केंद्र मानकर और EW को त्रिज्या लेकर अन्य वृत्त अलग-अलग खींचे गए हैं। इन दो वृत्तों के प्रतिच्छेदन बिंदु को N' और S' द्वारा दर्शाया गया है। रेखा N'S' उस वृत्त के दूसरे व्यास NS को स्थिर करती है, जिसका केंद्र O है। E,W,N और S पर एक बार फिर से दो फिज को बांध कर चाप खींचा गया है, जहाँ बिंदु A,D,C,B को स्थिर किए गए हैं। इस प्रकार ADCB एक वर्ग है।

---

4. कुलकर्णी, रघुनाथ पुरुषोत्तम, चार शुल्बसूत्र, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003, पृष्ठ संख्या-3-6

दूसरा प्रकार- माना कि XS, दिया गया माप (प्रमाण) a और XY है, बढ़ी हुई डोरी, 2a है। S, XY के मध्य में स्थित चिह्न है; फिर XS प्राची की लंबाई मापता है। T न्यञ्छन चिन्ह है इसलिए ST = ½ a - ¼ a = ¼ a.SY के मध्य U एक दूसरा चिन्ह है। XT, विकर्ण (अक्ष्न्या) =a+¼a= 5/4 a. TY, चौड़ाई (तिर्यंगमानी)= 2a-5/4a = ¾ a. इस प्रकार, $a^2 + (3/4a)^2 = (5/4a)^2$. दूसरे शब्दों में कहें तो, $XY^2 + YT^2 = XT^2$, इसलि XYT एक समकोण त्रिभुज है।

चित्र.3 (रस्सी)

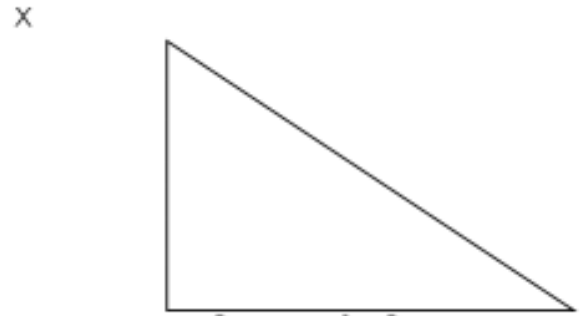

चित्र.4 (समकोण त्रिभुज)T

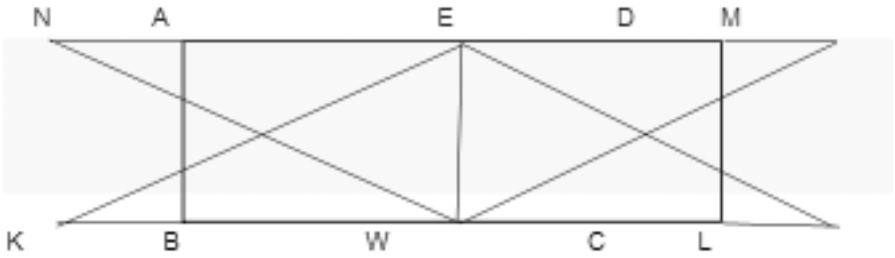

चित्र. 5 (दी गयी लम्बाई पर वर्ग)

निष्कर्ष- प्रस्तुत शोधपत्र में भारतीय गणितीय परम्परा के विविध बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है जिसमें यज्ञवेदि निर्माण की प्रक्रिया अद्वितीय है। शुल्ब की सहायता से विविध प्रकार की आकृतियों का निर्माण करना अपने आप में अद्‌भुत है। महर्षि बौधायन प्रणीत बौधायन शुल्वसूत्र में माप की इकाई तथा वर्ग निर्माण की प्रक्रिया को आधुनिक गणित शास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो शोधार्थियों एवं पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

सन्दर्भ-

1. शर्मा, श्रीराम (सम्पा.), ऋग्वेद संहिता, युग निर्माण योजना गायत्री तपोभूमि मथुरा, उत्तर प्रदेश, 2005
2. शास्त्री, रामकृष्ण (अनुवादक), यजुर्वेद (शुक्लयजुर्वेद), चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 1999
3. कुलकर्णी, रघुनाथ पुरुषोत्तम, चार शुल्बसूत्र, महर्षिसान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003
4 Sen, S.N. and Bag, A.K., Sulbsutras, Indian National Science Academy, New Delhi, 1983
5. Bag, A.K., Mathematics in ancient and Medieval India, Chaukhamba Orientaliya, Varanasi, 1979.
6. तिवारी, दयाशंकर, संस्कृत वाङ्मय में गणितीय परम्परा, चौखम्भा ओरियंटालिया, 2019

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (55-60) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

स्वामी योगेश्वरानन्द परमहंस द्वारा वर्णित आत्मतत्त्वोत्पत्ति सिद्धान्त

-डॉ. लीना झा*

-अतुल त्यागी**

सततगमनवाची **'अत-सातत्यगमने'** धातु से 'मनिन्' प्रत्यय पूर्वक 'आत्मा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- सतत गतिशील अथवा सतत सर्वत्र व्याप्त। जीवात्मा अनादिकाल से ही एक देह से दूसरे में और दूसरे से तीसरे देह में निरन्तर गति करता चला आ रहा है। इसलिए सतत गतिशील अर्थ जीवात्मतत्त्व पर लागु होता है और जो सतत सर्वत्र व्यापक रहता है उसे परमात्मा कहते हैं। आत्मा को 'जीव' का पर्यायवाची भी माना गया है।[1]

'आत्मा' शब्द के अर्थ को भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है। कठोपनिषद् में 'जीव' नाम से,[2] 'स्व-आत्मा' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। रघुवंश में व्यक्ति या समस्त शरीर का 'आत्मा' शब्द से संकेत प्राप्त होता है।[3] जो समस्त वस्तुओं में व्याप्त हो प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् को अपने में लीन कर ले, स्थितिकाल में समस्त विषयों का अनुभव करता हो, और जिसकी सत्ता तीनों कालों में रहती हो, उस तत्त्व का नाम 'आत्मा' है।[4]

तर्कसंग्रह में आत्मा को 'ज्ञान का अधिकरण' बतलाया गया है[5], जो 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' भेद से दो प्रकार का है।[6] 'आत्मा' शब्द के अन्य अर्थ

---

* प्रोफेसर योगविभाग, महाराजा अग्रसेन हिमालयन गढवाल विश्वविद्यालय।

** शोधच्छात्र, योगविभाग, महाराजा अग्रसेन हिमालयन गढवाल विश्वविद्यालय।

1 संस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ - 144

2 कठोपनिषद् - 03/03

3 रघुवंश - 10/66 तथा 01/14

4 शांकर वेदान्त - 02/05/08

5. तर्क संग्रह, पृष्ठ- 14

6. तत्रैव

भी प्राप्त होते हैं, यथा- 'चेतन', 'जीवात्मा', 'चित्त', 'बुद्धि', 'परमात्मा', 'देह', 'धृति', 'स्वभाव', 'सूर्य' तथा 'वायु'।[7]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'उणादि-कोष' की अपनी टीका में लिखा है- **'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति वा स आत्मा'** अर्थात् निरन्तर कर्मों के फल को जो प्राप्त करता है अथवा भोगता है वह आत्मा है।[8]

मेदिनीकोष के अनुसार आत्मा को **'पुंसि स्वभावेऽपि प्रयत्नमनसोरपि धृतवति मनीषायां शरीरब्रह्मणोरपि'** कहा है।[9] 'अमरकोष' में आत्मा को 'क्षेत्रज्ञ', 'आत्मा', 'पुरुष' तथा 'ब्रह्म' कहा है।[10]

पंचभौतिक शरीर का 'नियन्त्रणकर्त्ता', कोई ऐसा 'तत्त्व' इसमें निश्चित रूप से विद्यमान है जिसकी प्रेरणा से समस्त इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं अर्थात् शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियाँ जिस पर आश्रित हैं, जिसके न रहने पर शरीर में जड़ता के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता, उस तत्त्व को 'वेद' तथा 'शास्त्रों' में 'जीव' अथवा 'जीवात्मा' कहा गया है। जीवात्मा शरीर न होकर शरीर से पृथक् एक 'चेतन-अभौतिक पदार्थ' है, जिसमें 'कर्तृत्व, भोक्तृत्व' और 'ज्ञातृत्व' आदि लक्षण पाए जाते हैं। शरीर तो इन लक्षणों के प्रकाश का केवल 'उपकरणमात्र' है। ऋग्वेद 01/161/30 के अनुसार 'जीव' नाम से प्रसिद्ध तत्त्व शरीरादि से भिन्न सत्ता वाला है। वह शरीरादि के नष्ट हो जाने पर विनाश को प्राप्त नहीं होता। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी नाशवान् शरीर से व्यतिरिक्त (भिन्न) आत्मा को 'शरीरी' कहा गया है।[11] ऋग्वेद के अनुसार यह 'अमरणधर्माजीव' 'मरणधर्मा-शरीर' के साथ समान स्थान वाला होकर धारण करने वाली 'अन्नादि' शक्तियों द्वारा 'नश्वर-शरीर' के अन्दर विचरण करता है। प्रकृत्यादि पदार्थों के भोगों के द्वारा पकड़ा हुआ 'अमरणधर्मा-जीव', 'मरणधर्मा-शरीर' के साथ 'समान-स्थान' वाला होकर विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है;[12] परन्तु प्रायः अविज्ञ जनों का मन्तव्य यही होता है कि आत्मतत्त्वोत्पत्ति परमात्मतत्त्व से होती है।

स्वामी योगेश्वरानन्द का मत है कि यह सिद्धान्त बिल्कुल ही असङ्गत है। इस सिद्धान्त को मानने से ब्रह्म को जीवात्मा के प्रति उपादानकारण मानना पड़ेगा। उपादान

---

7. रामस्वरूप शास्त्री, आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोष, पृष्ठ- 46
8. उणादिकोष-04/153 पर महर्षि दयानन्द की व्याख्या
9. मेदिनीकोष, पृष्ठ-90 काशी संस्कृत सीरिज 41, वाराणसी 1916
10. अमरकोश, प्रथम काण्ड का लवर्ग 272 पङ्क्ति (निर्णय सागर प्रेस)
11. श्रीमद्भगवद्गीता-02/18
12. ऋग्वेद 01/164/30

कारण विकारवान्, परिवर्तनशील, भिन्न-भिन्न रूपों में बदलने वाला होता है। इससे जीवात्मा को कार्य मानना पड़ेगा, और वह अनित्य चित्त के समान हो जाएगा। जैसे प्रकृति की सृष्टि चलती है, वैसे ही परमात्मा द्वारा जीवात्माओं की एक अलग सृष्टि चलेगी। प्रकृति की जड़ात्मक सृष्टि होती है, और दूसरी परमात्मा की चेतनात्मक सृष्टि चलेगी। परन्तु आपके मतानुसार तो वह एक ही बार आत्मा-रूप कार्य उत्पन्न करके खत्म कर देता है। आगे उस उत्पन्न आत्मा से और आत्मा उत्पन्न नहीं हुए। प्रकृति ने तो अनेक कार्यों को उत्पन्न करके एक विशाल ब्रह्माण्ड खड़ा कर दिया है, परन्तु परमात्मा ने तो एक आत्मा बना कर अपनी सृष्टि समाप्त कर दी है। यदि ब्रह्म को उपादान-कारण मानते हैं, तब एक निमित्त कारण और कोई ऐसा चेतन मानना पड़ेगा जो कि ब्रह्म को जीवों के उत्पन्न करने में नियोजित कर सके या उसके द्वारा उत्पन्न करने की व्यवस्था कर सके। जैसे ब्रह्म प्रकृति के कार्यशील होने में गति का हेतु होता है, इस प्रकार परमात्मा को भी क्रियाशील करने में उससे भिन्न कोई और चेतन होना चाहिए। जैसे जीवों को ब्रह्म जन्म-मरण आदि कार्यों में नियोजित करता है, वैसे ही परमात्मा को भी नियोजित करने वाला और एक सर्वव्यापक, निरवयव चेतन मानना पड़ेगा।[13] यहां तो वह परमात्मा ही जीव सृष्टि पैदा करके ठहर जाएगा और दूसरी, तीसरी, चौथी आदि सृष्टियां नहीं उत्पन्न कर सकेगा। जीव-सन्तति को आगे चढ़ाना चाहिए था, परन्तु परमात्मा तो परिणत होकर दूसरे जीवों की व्यवस्था में ही रह गया। तदनन्तर उस में कोई कार्यान्तर न हुआ। जीवों की अवस्था में पहुंच कर ही परिणामक्रम रुक गया। इधर जीवों के प्रति ईश्वर उपादान-कारण हुआ, उधर प्रकृति के प्रति आप उसे निमित्त कारण भी मानेंगे।[14]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रकृति के प्रति भी ब्रह्म को उपादानकारण माना जा सकता है? अर्थात् क्या उस ब्रह्म से चेतन और जड़ दो पदार्थों की उत्पत्ति हुई है? परन्तु जगत् में यह देखने में आता है कि जड़ पदार्थों से जड़ों की और चेतन से चेतन की ही उत्पत्ति होती है। जड़ता और चेतनता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म हैं, अतः चेतन से जड़ की उत्पत्ति नहीं होती। जो गुण उपादान में होते हैं वे ही उसके कार्य में भी आते हैं।[15] जड़ से जड़ पदार्थों की उत्पत्ति और चेतन से चेतन पदार्थों की उत्पत्ति मान लेने पर, जड़ से जड़ों की बात प्रत्येक के देखने में आ रही है। जैसे पृथ्वी जड़ है, उससे मकान, पुल, बर्तन, पत्थर, लोहा, तांबा, सोना आदि अनेक जड़ पदार्थ उत्पन्न होते देखे जाते हैं। यह शतशः सत्य है। चेतन

---

13. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, पृष्ठ- 129
14. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, पृष्ठ- 130
15. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, तत्रैव।

परमात्मा से चेतन जीव उत्पन्न होने से वह पृथ्वी के समान विकारवान् और अनित्य हो जाएगा। ऐसा मान लेने से परमात्मा की अखण्डता, निष्क्रियता, एकरूपता एवं सर्वव्यापकता समाप्त हो जाती है। प्रकृति में और उसमें कोई अन्तर भी नहीं रहेगा। जीवों का उपादान कारण होने से वह विकारी भी हो जाएगा। इस कारण से जीवों की उत्पत्ति की बात ईश्वर में यथार्थ प्रतीत नहीं होती।[16] एक बात और भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि जैसे प्रकृति स्वयम् अकेली किसी पदार्थ को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती; अपितु ईश्वर की सहायता की अपेक्षा करती है, इसी प्रकार परमात्मा को भी जीवों को उत्पन्न करने के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा होगी। वह दूसरा कौन है जो ईश्वर की सहायता करेगा? ऐसा कोई पदार्थ देखने में नहीं आता, इत्यादि अनेक कारणों से परमात्मा से जीवों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। परमात्मा न सावयव है, न विकारवान् है, न बदलने वाला है, न एकदेशी। न किसी देश विशेष में रहता है, न वह किसी का कार्य है, न उपादान कारण है, जो कि जीवों को उत्पन्न करे।[17] अतः उससे जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। उनको नित्य ही मानना पड़ेगा। अन्य कोई ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे जीवात्माओं की उत्पत्ति हो। प्रकृति जड़ है, वह चेतन की उत्पत्ति नहीं कर सकती। परमात्मा सर्वव्यापक है, अखण्ड है, सर्व-प्रकार के विकारों से रहित है। फिर उससे जीवों की उत्पत्ति कैसे होगी? चाहे आप जीवात्मा को अणु मानें या सारे शरीर में व्यापक मानें, आपको उसे नित्य मानना ही पड़ेगा। उसका उपादान कोई भी जड़ या चेतन प्रतीत नहीं होता। इससे वह नित्य अजन्मा, अजर, अमर, पवित्र, विकार रहित, चेतन और निरवयव ही सिद्ध होता है।

यदि जीवों की उत्पत्ति परमात्मा से मानते हैं, तब परमात्मा भी सावयव होना चाहिए, और जीवात्मा भी सावयव ही होगा। जो कोई पदार्थ सावयव होगा, वही अपने कार्य का उपादान कारण हो सकेगा। यदि परमात्मा को सावयव मानते हैं। तो यह विकारवान्, परिणामी, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होने वाला और गुणवान् भी होगा, और इसी प्रकार परमात्मा में भी और जीवात्मा में भी अनेक दोष उपस्थित हो जाएंगे, क्योंकि जो त्रुटियां जीवात्मा में हैं, वे उनके कारण परमात्मा में भी होनी चाहिए। जो गुण या धर्म, न्यूनता या विशेषता, ज्ञान अज्ञान कारण में होते हैं, वे कार्य में भी अवश्य आएंगे।

निष्कर्षतः परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे बालक के माता-पिता के शरीर में जो बीमारियां होती हैं, वे बीमारियां उनकी सन्तानों में भी आ जाया करती हैं। माता-पिता के शरीरों और उनके रज वीर्य से सन्तानों की उत्पत्ति

---

16. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, पृष्ठ- 131
17. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, तत्रैव।

होती है। इस कारण से उनकी सन्तानें भी उन रोगों से पीड़ित होती हुई देखने में आती हैं। बालक-बालिकाओं के रोगों का जब निदान करते हैं, तब उनके अनेक रोग उनके माता-पिता में भी पाए जाते हैं। यह रोग-परम्परा सन्तानों में भी चलती रहती है। इसलिए परम्परागत रोग जिनकी सन्तानों में चलते हैं, उनके विवाह नहीं होने चाहिए। तब ही रोगों की परम्परा समाप्त हो सकती है। इसी प्रकार जो अज्ञानता आदि दोष जीवात्मा में देखने में आते हैं, वे उनके पिता परमात्मा में भी होंगे या होने चाहिए, परन्तु परमात्मा में तो आप दोष मानते नहीं हैं, और उसकी सन्तान जीव में मानते हैं। यदि कहें कि जीवात्मा में दोष अन्तःकरण या शरीर के संयोग से आए हैं तो संग तो परमात्मा का भी प्रकृति और उसके कार्यों के साथ बना हुआ है, अतः उस में भी दोष आने चाहिए, किन्तु उसमें तो दोष देखने में नहीं आते हैं। परमात्मा कभी अपने दोषों या क्लेशों अथवा दुःखों को सुनाता नहीं, कहता भी नहीं है। जब कि आप तो अपने दुःख दर्द, क्लेशों को ढोल पीट-पीट कर सुनाते फिरते हैं, वैद्य डाक्टरों के द्वार खटखटाते रहते हैं। यदि वह जीवात्मा परमात्मा का बेटा होता या उससे उत्पन्न होकर आया होता तो यह भी उसके समान शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, पवित्र होता। ऐसा तो आप मानते नहीं हैं, आप तो उसे अज्ञानी, अल्पज्ञ, दुःखी-सुखी मानते हैं।[18]

इसका तो अभिप्राय यह निकलता है कि जीवात्मा कभी परमात्मा से उत्पन्न नहीं हुआ है, और कभी होगा भी नहीं। इसकी आपको नित्य स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ेगी। स्वतः सिद्ध, असंग, कारण-कार्य-भाव से रहित, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, पवित्र चेतन मानना पड़ेगा, तब ही आपका दुःखों से छुटकारा हो सकता है, और अज्ञान दूर हो सकता है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, पवित्र, चेतन और सदा मुक्त मानने से ही आत्मा की मुक्ति की बात घटेगी, अन्यथा अत्यन्त दुःखनिवृत्ति और मुक्ति की आशा आप न रखें। ये सब दुःख, क्लेश, अज्ञान आदि अन्तःकरण के ही धर्म मानने पड़ेंगे। अन्तःकरण तो उत्पन्न होकर आया है, विकारवान् है। इसके ज्ञान-अज्ञान बढ़ते घटते रहते हैं, उत्पत्तिमान् होने से प्रकृति का कार्य है।[19] जो गुण प्रकृति में हैं, वे उसमें भी आते हैं। आत्मा का संयोग होने से अज्ञानवश मानव अपने अन्तःकरण के दोषों को जीवात्मा के ऊपर आरोप करता रहता है। अज्ञानतावश आत्मा में ही सुख-दुःख मानता रहता है। जब दोनों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा के प्रति जो भ्रान्ति उत्पन्न हुई होती है, सुख-दुःख की, ज्ञान-अज्ञान की, जन्म-मरण की, बन्ध

---

18. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, तत्रैव।
19. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, पृष्ठ- 132

और मोक्ष की, वह सर्वथा नष्ट हो जाती है। तब साधक अपने को नित्य, चेतन, असंग, निष्क्रिय, निरवयव, सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप समझ लेता है।[20]

अन्ततोगत्वा यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा की कभी परमात्मा या किसी अन्य से उत्पत्ति नहीं होती। अल्प ज्ञान होने से भूल से मानव आत्मा को उत्पत्ति-धर्मवाला मान बैठा है। वास्तव में वह किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ, वह तो स्वतः ही नित्य सिद्ध है।

20. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत निर्गुण-ब्रह्म (उत्तरार्ध) पञ्चम सिद्धान्त, पृष्ठ- 132

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (61-64) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

भारतीयमायुर्विज्ञानम्

श्वेतार्या*
डॉ. दीनदयालः**

अखिलो विश्वः दुःखैरार्त्तः। दुःखानां श्रेणित्रयमृषयः कृतवन्तः। महर्षिकपिल आह–अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।[3] त्रिविधदुःखानि। आध्यात्मिकम्= आत्मदेहयोरविद्या रागो द्वेषो मूर्खत्वं ज्वरादिकञ्च। आधिभौतिकम्=शत्रुसिंहसर्पादिहिंस्रजन्तुभ्यः प्राप्यमाणं दुःखम्। आधिदैविकम्= अतिवृष्टिरनावृष्टिरतिशीतताऽत्युष्णता मनस इन्द्रियाणाञ्चाशान्तिः।[4]

तत्रात्यन्तिकदुःखानां निदानमाध्यात्मशास्त्रेषु विस्तरेण वर्णितमत्रायुर्वेददृशा विचार्यते–

आयुर्वेदस्त्वौषधविज्ञानमेव न तेन सह जागरूकतया जीवनयापनसिद्धन्तोऽपि वर्तते। त्रय उपष्टम्भा आहारनिद्राब्रह्मचर्यमिति।[5] स्फूर्तिमयं दिनं यापयितुमाहारशुद्धि निद्रापरिमाणो ब्रह्मचर्यसेवनञ्चातितरामावश्यकम्। पुरुषार्थसिद्धिः मानवजीवनस्य परमलक्ष्यं वर्तते। आरोग्यं विना पुरुषार्थसिद्धिरसंभवा। अत आह–धर्मार्थकाममोक्षाणमारोग्यं मूलमुत्तमम्।[6] देहपुष्टये नैकानि रसायनानि प्रसिद्धानि तत्र देहस्य पूर्णारोग्यायेदं सुलभं सुप्रसिद्धं रसायनं चरके वर्णितम्–

सत्यवाद्यक्रोधी, मद्ये मैथुने चानासक्तेऽहिंसकः, यथासामर्थ्यं परिश्रमकर्त्ता, शान्तस्वभावः, प्रियवादी, जपेषु लग्नः, मनसो देहस्य च शुचितायां सदा प्रवृत्तो, धीरः, सदा दानशीलस्तपस्वी, देवगोब्राह्मणाचार्याणां गुरुवृद्धजनानाञ्च पूजकः तदनुभूतज्ञानस्य च सेवी, मृदुस्वभावो, दयालुर्दुग्धाहारी, घृतसेवी, शयने जागरणे भोजनाच्छादनेषु च कालज्ञो मात्राज्ञः, निरभिमानी, श्रेष्ठाचारविचारवाञ् चिन्तनेषूदारोऽसंकीर्णोऽध्यात्मविद्योपासकस्तत्रैव चेन्द्रियाणि रमयति, वेदादिधर्मशास्त्रेषु सत्यशास्त्रेषु श्रद्धावानध्ययनशीलो,

---

* सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, कॉर्सियांग महाविद्यालय, दार्जिलिंग, पश्चिम बंगाल।
1. शोधछात्रा गुरुकुलकाङ्गडीविश्वविद्यालयो हरिद्वारः।
2. सहायकाचार्यो; वेदविभागो; गुरुकुलकाङ्गडीविश्वविद्यालयो हरिद्वारः।
3. सांख्य. 1.1
4. सत्यार्थप्रकाश. द.स.1
5. च.सं.सू. 11.35
6. च.सं.सू. 1.14

विजितेन्द्रियो, ज्ञानवृद्धानां वयोवृद्धानामुपासक-इत्येतैस्समुदितगुणैर्युक्ते मनुष्यस्सर्वदा रसायनमयो भवत्यर्थात् स सर्वाणि रसायनफलानि लभते[7]।

वेदेष्वपि स्वास्थ्यसूत्रं बहुधा दरीददृश्यतेऽस्माकं मनोबुद्धीन्द्रियाणि देहावयवानि व्यायामादिना मृदूनि भवन्ति। ततश्शरीरं पाषाणतुल्यं पुष्टं दृढञ्च भवति[8] धूमचिकित्सया मृत्युं वारयित्वा दीर्घायु प्राप्नुयात्। यज्ञधूमैर्दिव्यौषधीन् सेवित्वा देहं पोषयेत्। नाना विशेषज्ञैस्संपर्कं विधाय विविधौषधीन् वैद्यकशास्त्रञ्च शिक्षित्वा देहं मनोबुद्धीन्द्रियादिकं च शोधयेत्।[9] अयं हस्तः कल्याणकरं विश्वौषधं विद्यते। अस्मिन्सर्वव्याधीनां निदानमस्ति। पशूनां दुग्धेन, विविधौषधीनां सारैश्च चिकित्सा कर्तव्या।[11] जलं क्रिमिहरं कान्तिकरं च महदौषधं वर्तते। अस्य सेवनात्सर्वोऽपि रोगः शाम्यति।[12]

आयुर्वेदेषु शरीरसंरचना- दोषधातुमलमूत्रं हि शरीरम्।[13] मानवदेहो रसरक्त्मां समेदोऽस्थिमज्जाशुक्रधातुभि र्वातपित्तकफदोषै[14] र्मलमूत्रैश्च निर्मितमत आहैतेषां संघात एव मानवशरीरम्। पुरुषदेहे नव स्त्रीदेहे च द्वादश स्रोतांसि भवन्ति।[15] सप्ताशयाः

---

7. सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्। अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।।
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्रह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।।
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्। समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्।।
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञानहङ्कृतम्। शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्।।
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्।।
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्। रसायनगुणान् सर्वान्यथोक्तान्स समश्नुते।। च.सं.सू.1. 4.30-35
8. ऋजीते परिवृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु।। ऋग्. 6.75.12
एह्यश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु तेतनूः। अथर्व. 2.13.4
9. मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।। ऋग्.10.18.2
10. अयंमेहस्तोभगवानयंमेभगवत्तरः। अयंमे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः।। ऋग्.10.60.12
11. पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्। अथर्व.19.31.5
आपो अमीवचातनीः, आपो विश्वस्य भेषजीः। अथर्व.3.7.5
आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः। अथर्व.6.51.2
13. सु.सं.सू. 15.3
14. रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः सप्त।
वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। अ.हृ.सू.1.13
15. श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्ररणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वेस्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च। सु.सं.शा.5.10

पुरुषेष्वष्टाशयाश्च स्त्रीषु वर्तन्ते।[16] देहे मांससिरास्नाव्वस्थिसन्धयो हि पञ्च मर्मस्थलानि[17] मनसश्च स्थानं मस्तिष्कस्य मूर्ध्नि विद्यते।[18]

मूलतस्त्रिदोषमाश्रित्यायुर्वेदचिकित्सा प्रथिता। दिङ्मात्रमत्र निदर्श्यते-

चयं कोपं शमं याति ग्रीष्मादिष्वनिलस्त्रिषु।
कफस्तु शिशिराद्येषु पित्तं वर्षादिषु त्रिषु॥[19]

भावार्थः- ग्रीष्मे वातस्य संचयो; वर्षायां वातप्रकोपस्स्तथा शरदि वातस्य शमनं भवति। तथैव शिशिरतौं कफसंचयो; वसन्ते कफप्रकोपो; ग्रीष्मे च कफशान्तिर्भवति। एवमेव पित्तचयो वर्षतौं; शरदि पित्तप्रकोपो; हेमन्ते च पित्तदोषः शाम्यति॥

वातक्रियास्तावत्[20]- यात्रया, भयेन, क्रोधेन, शोकेन, मलमूत्रवमनादीनां वेगसंरोधेन, कुसमयभोजनेन, चिन्तया, श्रमेण, मैथुनेन च देहस्थो वातः कुप्यति। तेन च देहे पीडा, तोदः (चुभन), भङ्गोऽचेष्टा, श्वासोऽङ्गसुप्तिश्शोषश्श्यामत्वं चञ्चलतादयः परिमाणा दृश्यन्ते। वातस्य शमनार्थं स्वाद्वम्लवणस्नेहमदिरादिद्रव्याणां सेवनं हितकारी भवति। तथैवाभ्यङ्गातपनस्योद्वर्तनमर्दनादिना कुपितोवातः शाम्यति। स्निग्धमुष्णं वृष्यं च वस्तु वातहरं भवति। तथैव च शयनेन संवाहनेन वस्तिना समुचितपानाहारविहारैश्च प्रवृद्धो वातो नश्यति।

पित्तक्रियाः[21] - कट्वम्ललवणरसैः पित्तो दुष्यति। तथैवाजीर्णात् क्रोधाच्छोकाद्-घर्मेणातिश्रमेण च पित्तः प्रकुप्यति। विदाहीद्रव्यं (चर्परा पदार्थ), तीक्ष्णं, मद्यं, विषमाशनं च पित्तं दूषयन्ति। एतस्मात् कारणात्प्रलापो, भ्रमो, मुखकुक्षीनां दुर्गन्धिः, स्वेदो, दाहो, मुखस्य तिक्तता, मूर्छा, कोथः (सडन), विपाकादयश्च विकारा दृश्यन्ते। पित्तशमनाय

---

16. वाताशयः पित्ताशयः श्लेष्माशयो रक्ताशय आमाशयः पक्वाशयो मूत्राशयः स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति। सु.सं.शा.5.8
17. सु.सं.शा. 6.3
18. शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। भेल.सं.चि.8.4
19. योगरत्न। समु.प.प्र.
20. ततो यानभयक्रोधशोधसंरोधलङ्घनैः। चिन्ताश्रमव्यवायैश्च वायुः कोपमियान्नृणाम्।
शूलतोदाङ्गभङ्गास्त्वचेष्टाश्वासाङ्गसुप्तताः। शोषश्यावचलत्वादीन् कुर्यात् प्रकुपितोऽनिलः॥
स्वाद्वम्ललवणस्नेहमदिराभ्यञ्जनातपैः। स्निग्धोष्णनस्यशयनसमुद्वर्तनमर्दनैः॥
वृष्यसंवाहनस्नानतैलस्नेहनिरूहणैः। पानाहारविहारैश्च वायुरेभिः प्रशाम्यति॥ योगरत्न.समु.प.प्र.
21. कट्वम्ललवणक्रोधशोकतीक्ष्णविदहिभिः। मद्यातपश्रमाजीर्णैः पित्तं च विषमाशनैः।
प्रलापभ्रमवैगन्ध्यस्वेददाहास्यतिक्तताः। मूर्च्छाकोथविपाकादीन् पित्तमभ्यधिकं नृणाम्॥
तिक्तस्वादुकषायैस्तु विरेकक्षीरसेवनैः। ज्योत्स्नाछायाजलक्रीडानिशावीजनचन्दनैः॥
पद्मोशीरोपदेहैस्तु सर्पिषा शीतवायुना। पानाहारविहारैस्तु पित्तमुग्रं जयेन्नरः॥ योगरत्न.समु.प.प्र.

तिक्तं, स्वादु, विरेचकद्रव्यं, दुग्धादिकं च सेवनं हितकरं भवति। कषायैश्चन्द्रिकाच्छायया, जलेन, क्रीडया, रात्रौ, वीजनेन, चन्दनेन च् पित्तं हरेत्। तथैव कमलोशीरयोर्लेपो, घृतं, शीतलसमीर, उत्तमपानाहारविहारश्च दूषितपित्तं शमयति।

कफक्रियाः[22]- मत्स्यमांसै गुरुद्रव्यैः स्निग्धेन शीतलपदार्थेनाम्ललवणरसैश्च कफो वर्धते।तथैव तिलेनेक्षुविकारै दुग्धविकारैरतिभोजनेन च कफदोषः प्रकुप्यति। तेन च शरीर आलस्यं गुरुता हृल्लासः कण्डू पिपासा कासः शीतता निद्रा श्वासरोगा अङ्गसंघातो (repiratory congestion) विस्वरतादयो विकारा दृश्यन्ते। व्यायामेन, श्वासमार्गसंशोधनेन, क्वाथेन, वमनक्रियया, स्वेदेन, जागरणेन, कटुतिक्तक्षारद्रव्यैश्च प्रकुपितः कफः शाम्यति। तथैव विरेचनेन धूमचिकित्सयोपवासादुष्णरूक्षपदार्थसेवनेन नस्येन निष्ठीवनेन युक्त्याहारविहारैश्च दूषितं कफं शमयेत्।

क स्वस्थ इति जिज्ञासायां सुश्रुत आह- यस्य त्रिदोषा आशया धातवश्चसमाना वर्तन्ते; मलादिक्रिया सुचारुतया भवति तथा चात्मेन्द्रियमनांसि प्रसन्नानि सन्ति स एव स्वस्थः।[23] षड्रससेवनेन बलं वर्धते प्रतिदिनमेकरसाभ्यासेन देहे दुर्बलता भवति।[24] युक्त्याहारस्यासेवनाद्, व्यञ्जनाद्यशनकाले धैर्याभावादधिकभोजनं, स्वास्थ्यायानुकूलं प्रतिकूलं वेत्यविचार्याहारसेवनमादिदोषान्परिगणयञ्चरकाचार्यः सर्वव्याधीनां मूलकारणं प्रज्ञापराधं निर्दिष्टवान्।[25] अतो युक्त्योत्तमाहारविहारैः श्रेष्ठाचारविचारैश्च जीवनं यापयेद्यतः शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।[26] देहरक्षायै हितकरं मात्रया ऋत्वनुकूलमेवाश्नीयन्नान्यथाऽयमेव संक्षेपेण भारतीयायुर्वेदो जीवनसिद्धान्तश्च।

✦✦✦

---

22. मत्स्यमांसगुरुस्निग्धशीताम्ललवणोदकैः। तिलेक्षुविकारसंभूतैः श्लेष्मा वात्यशनादिभिः।
आलस्यगुरुहृल्लासकण्डुतृड्दाहशीतताः। निद्राश्वासाङ्गसङ्घातवैस्वर्याद्यं कफोऽधिकः।।
व्यायामाद्यकषायैस्तु वमनस्वेदजागरैः। स्त्रीसेवाकटुतिक्तैस्तु धूमक्षारविरेचनैः।।
उपवासोष्णरूक्षैस्तु नस्यनिष्ठीवनादिभिः। पानाहारविहारैस्तु कफमुग्रं प्रशाम्यति।। योगरत्न.समु. प.प्र.
23. समदोषः समाग्निश्च समधातुमल क्रियाः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सु.सं. सू.15.10
24. सर्वरसाभ्यासो बलकराणामेकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्। च.सं.सू.25.40
25. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वरोगप्रकोपणम्।। च.सं.शा. 1.102
26. कुमारसंभवम्। 5.33

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (65-74) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

शिक्षाप्रातिशाख्यानुसारं वर्णोच्चारणस्थानविमर्शः

-डॉ. सुदीप-मण्डलः

0. भूमिका

स्वरकालस्थानप्रयत्नानुप्रदानेषु पञ्चसु[1] वर्णविभागकारणेषु तृतीयं कारणं भवति स्थानम्। स्थानस्य परिभाषा पाणिनीयशिक्षायां यद्यपि नैव उपलभ्यते तथापि कौण्डिन्न्यायन-शिक्षायां प्रातिशाख्यादिषु च उपलभ्यते एव। तथाहि फुस्फुसात् प्रयत्नप्रेरितः वायुः यान् देशान् प्रतिहत्य वर्णभावं प्राप्नोति तानि स्थानानि इत्युच्यन्ते। तत्र शिक्षावचनं तावत्-

फुस्फुसात् निर्गतो वायुर्यान् देशान् प्रतिहत्य च।
वर्णीभवति तान्याहुः स्थानानि खलु शिक्षकाः।।[2] इति।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसारं स्वराणामुच्चारणकाले जिह्वायाः यत्र उपसंहारो भवति तत्स्थानमित्युच्यते।तत्र वर्णोच्चारणकाले वायोः मार्गावरोधार्थं मुखविवरान्तर्गतमवयवद्वयमपेक्षते। तयोः यत् सचलमङ्गं तत्करणमित्युच्यते, अन्यत् यदचलमङ्गं वर्तते तत् स्थानमित्युच्यते। तानि स्थानानि आश्रित्य शिक्षाप्रातिशाख्यानुसारेण विमर्शात्मकमध्ययनं प्रस्तूयते।

1. शिक्षाप्रातिशाख्यानुसारं स्थानानि

शिक्षाप्रातिशाख्यादिषु यानि वर्णोच्चारणस्थानानि उपलभ्यन्ते तान्यधः नाममात्रेणैव उदाह्रियन्ते। यथा-

ऋक्प्रातिशाख्यानुसारेण वर्णानां स्थानानि नव सन्ति। तथाहि- कण्ठः, उरः, जिह्वामूलम्, तालु, मूर्धा, दन्तमूलम्, बर्स्वम्, ओष्ठौ, नासिका चेति।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यदिशा हनुमूलम्, हनु, तालु, मूर्धा, जिह्वाग्रः, ओष्ठौ, दन्तमूलम्, दन्ताः, कण्ठः, नासिका, मुखनासिका चेति एकादश स्थानानि वर्तन्ते।

---

* सहायकाध्यापकः, संस्कृतविभागः, उत्तरवङ्गविश्वविद्यालयः, जलपाइगुडिः-735102।

1. "स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नाऽनुप्रदानतः" इति पाणिनीयशिक्षायां कारिकासङ्ख्या- 10
2. कौण्डिन्न्यायनशिक्षायां बलाध्याये द्वितीयं पद्यम्- 5/2

वाजसनेयिप्रातिशाख्यानुसारं तु जिह्वामूलम्, तालु, मूर्धा, दन्तमूलम्, दन्ताः, ओष्ठौ, कण्ठः, नासिका चेति अष्टौ स्थानानि विद्यन्ते।

ऋक्तन्त्रानुसारेण तु दश स्थानानि इत्युच्यन्ते। तानि च- कण्ठः, उरः, जिह्वामूलम्, तालु, मूर्धा, दन्ताः, दन्तमूलम्, ओष्ठौ, हनु, नासिका चेति।

शिक्षाशास्त्रेषु पाणिनीयशिक्षायामेव वर्णोच्चारणस्थानानां विवरणं विस्तारेणोपलभ्यते। तत्र अष्टौ स्थानानि इत्युच्यन्ते। तानि च स्थानानि उरः, कण्ठः, शिरः, जिह्वामूलम्, दन्ताः, नासिका, ओष्ठौ, तालु चेति।

2. शिक्षावचनानुसारेण कण्ठादिसंज्ञा

परम्परया आगतानि एतानि कण्ठादीनि स्थानानि लौकिकरीत्या प्रसिद्धानि। अतः तेषां संज्ञाः पाणिन्यादिभिः आचार्यैः अनुक्ताः। केवलं कोण्डिन्न्यायनशिक्षायां स्थानानां परिचयार्थं काश्चन कारिकाः उपलभ्यन्ते। ताः कारिकाः आधारीकृत्य कण्ठादीनां स्थानानां संज्ञाः निरूप्यन्ते। तत्र मुखनासिकयोः कुहरिकाविभागात् अधः, स्वरयन्त्रात् ऊर्ध्वञ्च विद्यमानः प्रदेशः कण्ठसंज्ञकः इत्युच्यते। मुखबिलस्य अन्तः छदस्स्थानीयः उन्नततमः भागः भवति मूर्धा। मूर्ध्नः पुरस्तात् बर्स्वात् पश्चात् विद्यमानः प्रदेशः तालु इत्युच्यते। मूर्ध्नः पुरोवर्ती भागः बर्स्वमिति बोध्यम्। दन्तादीनां संज्ञा प्रसिद्धत्वात् नैव उच्यते। यथा चोक्तं कौण्डिन्न्यायनशिक्षायाम्-

मुखनासाकुहरिकाविभागस्थानतस्त्वधः।
स्वरयन्त्रमुखादूर्ध्वः प्रदेशः कण्ठ उच्यते॥

मध्यस्तथोन्नततमो भागो मुखबिलस्य तु।
छदिषोऽभिमतो मूर्धा शिक्षकाणां विपश्चिताम्॥

उक्तान्मूर्ध्नः पुरः पश्चाद्बर्स्वाद्यो भाग आस्यगः।
तत्तालु शिक्षाशास्त्रे तु विदुषामभिसंहितम्॥[3] इति।

3. शिक्षाप्रातिशाख्यानुसारेण वर्णोच्चारणस्थानानि

शिक्षाप्रातिशाख्यादिषु एव वर्णानां स्थानानि सम्यक् प्रतिपादितानि सन्ति। यद्यपि तत्र उपलब्धयोः स्थानसंख्ययोः वैसाम्यं दृश्यते तथापि तदनुसारेण उपलब्धेषु वर्णोच्चारणस्थानेषु अष्टौ स्थानान्यत्र आलोच्यन्ते। पुनश्च तेषु अष्टसु स्थानेषु अन्येषा-मन्तर्भावोऽपि प्रदर्श्यते। तथाहि-

---

3. कौण्डिन्न्यायनशिक्षा - 2/33, 37-38

3.1. कण्ठः

गोपथब्राह्मणे कण्ठस्य स्थानरूपेण ग्रहणं विद्यते। तत्र ब्राह्मणवचनं तावत्– सन्ध्यक्षरम् अवर्णलेशः कण्ठ्यो यथोक्तशेषः पूर्वो विवृतकरणास्थितश्च।[4] ऋक्प्रातिशाख्यानुसारेण अकारस्य, हकारस्य, विसर्जनीयस्य च उच्चारणस्थानं भवति कण्ठः।[5] वाजसनेयिप्रातिशाख्यस्य तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसारेण तु हकारस्य विसर्जनीयस्य च स्थानं भवति कण्ठः।[6]

पाणिनीयशिक्षानुसारम् अकारस्य हकारस्य च उच्चारणस्थानं भवति कण्ठः। किन्तु वर्गपञ्चमैः ङकारादिभिः, अन्तस्थासंज्ञकैः यण्प्रत्याहारस्थैः यरलवैः वर्णैः हकारः संयुक्तः चेत् तस्य हकारस्य स्थानं भवति उरः। एतैः वर्गपञ्चमवर्णैः ङकारादिभिः, अन्तःस्थासंज्ञकैः यरलवैः वा असंयुक्तस्य हकारस्य तु उच्चारणस्थानं भवति कण्ठः इति। यथा आह्निकमित्यत्र हकारस्य वर्गपञ्चमेन नकारेण संयोगात् तस्य हकारस्योच्चारण–स्थानम् उरः भवति। ह्रस्वः इत्यत्र तु हकारस्य अन्तस्थासंज्ञकेन रेफेण संयोगात् तस्यापि उरः एव उच्चारणस्थानम्। हविः इत्यादौ असंयुक्तस्य हकारस्य उच्चारणस्थानं तु कण्ठः एव। वस्तुतः हकारात् उत्तरवर्तिनः वर्गपञ्चमस्य अन्तस्थासंज्ञकस्य वा वर्णस्य उच्चारणे प्रयुक्तस्य अनिलस्य अवरोधेन हकारस्योच्चारणे अप्यनिलस्य सामान्यांशेन अवरोधात् अन्तरमुखस्य गुञ्जनस्योत्पत्तौ तादृशम् उच्चारणम् इति बोध्यम्। यथा चोक्तं पाणिनीयशिक्षायाम्–

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं[7] तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्।।[8] इति।

एवञ्चात्र एकारैकारयोः उच्चारणस्थानं भवति कण्ठतालु। ओकारौकारयोः उच्चारणस्थानं तु कण्ठोष्ठम्। तत्र एकारैकारयोः ओकारौकारयोश्च कस्मिन् भागे कण्ठत्वं कस्मिन् भागे तालव्यत्वं ओष्ठत्वं वेति जिज्ञासायामुच्यते ऐकारे औकारे च आद्यः अर्धमात्रात्मकः भागः कण्ठस्थानकस्य अवर्णस्य स्यात्, एकारे ओकारे च मात्रात्मकः भागः कण्ठस्थानकस्य अवर्णस्य स्यात्। परिशेषात् एकारे ऐकारे च अवशिष्टः भागस्तु इवर्णस्य स्यात्, ओकारे औकारे च अवशिष्टः भागः उकारस्य स्यात्। तयोः ऐकारौकारयोः एकारौकारयोश्च आदौ विद्यमानयोः अकारयोः करणं क्रमेण विवृतं संवृतं च स्यात्।

---

4. गोपथब्राह्मणम् – 1/1/27
5. कण्ठ्योऽकारः। प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्। ऋक्प्रातिशाख्यम् – 1/38,39
6. कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् – 2/46
7. शब्दार्थरत्ने तु औरस्यमिति पाठः।
8. पाणिनीयशिक्षावचनम् – 16

व्यासशिक्षायामपि हकारस्य विसर्गस्य च स्थानं कण्ठः इत्युक्तम्। परन्तु तत्र विशेषरूपेण शुद्धस्वराणामपि कण्ठस्थानमुक्तम्।[9]

अनन्तरकालिकाः वैयाकरणाः तु प्रातिशाख्याभिमतात् दूरं गत्वा कवर्गस्यापि कण्ठस्थानं स्वीकृतवन्तः। तस्यैव अनुवादः "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः"[10] इत्येवम्प्रकारेण सिद्धान्तकौमुद्याम् उपलभ्यते।

आधुनिकध्वनिशास्त्रकाराः तु अकारककारयोः समानस्थानत्वं नैव स्वीकुर्वन्ति। तैः ककारगकारयोः द्वैविध्यं स्वीक्रियते। एकः तालव्यः अपरश्च जिह्वामूलीयः। संस्कृते भारतीयभाषान्तरे वा प्रायः उच्चारितः ककारः जिह्वामूलीयः नास्ति। जर्मन, पोर्तुगीज, फ्रेञ्च, खोइशान् इत्यादिभाषासु शुद्धजिह्वामूलीयस्य कवर्गस्य प्रयोगः दृश्यते। जिह्वामूलीयस्य समीपे विद्यमानस्य ककारस्यापि क्वचित् तादृशमुच्चारणं संस्कृते अनुभूयते। अतः कवर्गस्य वास्तविकमुच्चारणस्थानं प्रातिशाख्यदिशा एव स्वीकरणीयम्।

3.2. जिह्वामूलम्

जिह्वामूलशब्दस्य व्युत्पत्तिगतार्थः भवति जिह्वामूलात् उच्चारितः वर्णः इति। परन्तु संस्कृतवाङ्मये तस्य जिह्वामूलशब्दस्य वर्णविशेषे रूढिः दृश्यते। अधुना जिह्वामूले उच्चारितानां वर्णानां विवरणं प्रातिशाख्यानुसारेण विचार्यते।

ऋक्प्रातिशाख्यानुसारेण ऋकारस्य, ककारस्य, षष्ठोष्मणः, क इत्यस्य, प्रथमस्य वर्गस्य च उच्चारणस्थानं भवति जिह्वामूलम्। तथा च- ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः।[11] तैत्तिरीयप्रातिशाख्याभिमतेन तु कवर्गः जिह्वामूले उच्चारितः भवति। एतस्याभिमतस्य समर्थनं चतुरध्यायिकायामपि दृश्यते। "जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्"[12] इति चतुरध्यायिकायाः वचनानुसारेण जिह्वामूलस्य करणं भवति हनुमूलम्। ऋक्तन्त्रानुसारं तु ऋकारककारयोः उच्चारणस्थानं भवति कण्ठः।

जिह्वामूलीयस्य उच्चारणस्थानविषये प्रातिशाख्यादिषु मतपार्थक्यं दृश्यते। चतुरध्यायिकानुसारेण जिह्वामूलीयस्य करणं भवति हनुमूलमित्युक्तम्। तेन एतज्ज्ञायते यत् जिह्वामूलीयस्य उच्चारणस्थानं जिह्वामूलमिति। चतुरध्यायिकाभिमतात् विरुद्धं भवति तैत्तिरीयप्रातिशाख्याभिमतम्। तन्मते हनुमूलं भवति जिह्वामूलीयस्य स्थानं तथा जिह्वामूलं भवति करणम्।[13]

---

9. हकारश्च विसर्गश्च कण्ठस्थानावितीरितौ। व्यासशिक्षा - 406
10. सिद्धान्तकौमुद्यां संज्ञाप्रकरणे तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमिति सूत्रव्याख्यानं द्रष्टव्यम्।
11. ऋक्प्रातिशाख्यम् - 1/41
12. चतुरध्यायिका - 1/20
13. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् - 2/35

पाणिनीयशिक्षानुसारं तु कवर्गः जिह्वामूले उच्चार्यते। तत्र जिह्वामूलीयस्य किमुच्चारणस्थानमिति नैव सूचितम्। "अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः"[14] इति पाणिनीयशिक्षावचनेन अयोगवाहानाम् आश्रयस्थानभागित्वमेव प्रतिपाद्यते।

व्यासशिक्षानुसारेणापि कवर्गस्य जिह्वामूलस्थानमिति उच्यते। तथा च- कवर्गादिषु जिह्वादिमध्यान्तोष्ठेन चोपरि। अत्र कवर्गोच्चारणकाले जिह्वामूलेन तदुपरिदेशः नाम जिह्वामूलमिति बोध्यम्।

प्रातिशाख्याभिमते अकारहकारयोः विसर्जनीयस्य च कण्ठस्थानम् इत्युक्तम्। अनन्तरकालिकैः वैयाकरणैः कवर्गस्यापि उच्चारणं कण्ठे इत्युक्तम्। परन्तु कवर्गस्योच्चारणे कण्ठस्य अपेक्षया जिह्वामूलहनुमूलयोः सक्रियत्वमेव अनुभूयते।

वस्तुतस्तु अनन्तरकालिकैः वैयाकरणैः कवर्गस्य यत् कण्ठस्थानत्वमुक्तं तत्र कण्ठशब्दस्य वास्तविकार्थः ज्ञातव्यः। तत्र कण्ठशब्दे उपलक्षणं वर्तते। तेन तदर्थस्य कण्ठरूपार्थस्य अन्यपदार्थस्य जिह्वामूलस्य च बोधः जायते। अत एव नागेशेनोक्तं "कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम्"[15] इति। एतस्यैव विवरणं परं प्रस्तूयते।

3.3. तालु

ऋक्प्रातिशाख्ये इकाराणाम् एकारैकारयोः चवर्गस्य यकारशकारयोः च उच्चारणस्थानं तालु इत्युच्यते। तथा च- "तालव्येकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः"[16] इति। वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि एतदेव कथ्यते। तथाहि "इचशेयास्तालौ"[17] इति। तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये तालुस्थानानाम् उच्चारणविधिः सम्यक् ग्रथिता। तत्रोच्यते चवर्गस्योच्चारणे तालुस्थाने जिह्वामध्यस्य स्पर्शः जायते। यकारस्य उच्चारणे जिह्वामध्यान्ताभ्यां स्पर्शः जायते।[18] "तालुस्थानां मध्येन"[19] इति वाजसनेयिप्रातिशाख्यानुसारं "तालव्यानां मध्यजिह्वम्"[20] इति चतुरध्यायिकानुसारं च तालव्यवर्णानां करणं जिह्वामध्यमिति ज्ञायते।

---

14. पाणिनीयशिक्षावचनम् - 22
15. लघुशब्देन्दुशेखरे "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इति सूत्रव्याख्यानं द्रष्टव्यम्।
16. ऋक्प्रातिशाख्यम् - 1/42
17. वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - 1/66
18. "तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे" इति "तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे" इति च। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्- 2/36, 2/40
19. वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - 1/79
20. चतुरध्यायिका - 1/21
21. अमरकोशः - 2/6/719

3.1. मूर्धा

उच्चारणस्थानेषु अन्यतमः भवति मूर्धा। स च मस्तकार्थे प्रयुज्यते। तथा चोक्तम् अमरकोशे "उत्तमाङ्गं शिरः[21] शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इति। प्रातिशाख्यादिषु एषः मूर्धशब्दः मुखविवरवर्तिनि उच्चौस्तमे भागे वर्तते। तथा चोक्तं त्रिभाष्यरत्नकारेण "मूर्धशब्देन वक्त्रविवरोपरिभागः विवक्ष्यते"[22] इति।

ऋक्प्रातिशाख्ये, वाजसनेयिप्रातिशाख्ये, ऋक्तन्त्रे च षकारटवर्गीयानाम् उच्चारणस्थानं मूर्धा इत्युक्तम्। तथाहि- "मूर्धन्यौ षकारटवर्गौ" इति, "षटौ मूर्धनि" इति, "मूर्धनि षटौ" इति च।[23] जिह्वाग्रभागेन मूर्धास्थानस्य स्पर्शेन मूर्धन्याः उच्चार्यन्ते इति तैत्तिरीय-प्रातिशाख्याभिमतम्। तथा च- जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे।[24] वाजसनेयिप्रातिशाख्येऽपि एतदेवोच्यते। तथाहि- मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितमिति।[25]

सिद्धान्तकौमुद्यनुसारेण तु ऋकाराणाम्, टवर्गस्य, रेफषकारयोश्च उच्चारणस्थानं भवति मूर्धा। एतच्च मतं प्रातिशाख्याभिमतेन नैव मिलति। प्रातिशाख्यानुसारं तु ऋकारस्य जिह्वामूलम्, रेफस्य दन्तमूलमित्युच्यते। तच्च परं प्रतिपादयिष्यते।

3.5. दन्तमूलम्

उच्चारणस्थानेषु दन्तमूलस्य प्राधान्यमधिकं वर्तते। ततः तवर्गस्य सकारस्य लकारस्य रेफस्य च उच्चारणं भवतीति ऋक्प्रातिशाख्याभिमतम्। तथा चोक्तम्- "दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः। सकाररेफलकाराश्च"[26] इति। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसारेण तु तवर्गः लकारसकारौ च दन्तमूले उच्चार्यन्ते। तथाहि उक्तं "जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। दन्तमूलेषु च लकारे। स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्वेण"[27] इति। तत्रोच्यते रेफः दन्तमूलानामाभ्यन्तरे विद्यमानस्य उपरिभागस्य जिह्वाग्रमध्येन स्पर्शात् उच्चार्यते इति। तथा च तैत्तिरीयप्रातिशाख्यं "रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग् दन्तमूलेभ्यः"[28] इति। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य त्रिभाष्यरत्नकारेणापि उक्तं "रेफे कार्ये जिह्वाग्रमध्येन दन्तमूलेभ्यः प्रत्यक् स्पर्शयेत्। प्रत्यक् इति अभ्यन्तरमुरिभाग इत्यर्थः। यथा प्रत्यगात्मेत्यन्तरात्मा प्रतीयते" इति।

---

22. तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये त्रिभाष्यम् - 2/37
23. ऋक्प्रातिशाख्यम् - 1/43, वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - 1/67, ऋक्तन्त्रम् - 6
24. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् - 2/37
25. वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - 1/78
26. ऋक्प्रातिशाख्यम् - 1/44-45
27. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् - 2/38, 42, 44
28. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् - 2/41

ऋक्प्रातिशाख्याभिमतेन वाजसनेयिप्रातिशाख्यस्य मतं मिलति। केवलं तत्र अधिकतया कारस्यापि ग्रहणं विद्यते। तथा च "रो दन्तमूले। लसिता दन्ते।" इति। अत्र दन्तदन्तमूलयोः पृथक्तया ग्रहणं दृश्यते। "दन्ते त्स्लाः" इति ऋक्तन्त्रानुसारेण रेफः दन्तमूलीयः नास्ति।

ऋक्प्रातिशाख्ये तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये च स्थानं दन्तमूलमित्युक्तम्। परन्तु ऋक्तन्त्रे चतुरध्यायिकायाञ्च स्थानं दन्ताः इत्युक्तम्। वाजसनेयिप्रातिशाख्ये तु दन्ताः दन्तमूलात् पृथक्त्वेन गृहीताः। अत्र दन्तदन्तमूलयोः यः भेदः प्रतिपादितः स तु उपाधिकृतः एव। कारणं हि आस्यतः निरर्गच्छतः अनिलस्य वेगं निरुध्य दन्ताः यथायथोच्चारणे साहाय्यं कुर्वन्ति। वस्तुतः दन्ताः साक्षात् वर्णोच्चारणस्थानत्वेन नैव विचिन्तनीयाः। अन्यथा दन्तानां स्थानत्वस्वीकारे भग्नदन्तविशिष्टैः वृद्धैः तेषां दन्त्यानाम् उच्चारणं नैव स्यात्। नागेशेन तु दन्तशब्देन दन्तसंयुक्तप्रदेशं गृहीत्वा एतन्मतं समर्थितम्। तथो चोक्तं नागेशेन "दन्ता इति। दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव।"[29] इति।

3.6. बर्स्वम्

दन्तानां पृष्ठतः उन्नतः प्रदेशः बर्स्वमिति नाम्ना अभिधीयते। यथा चोक्तमाचार्येण उवटेन "बर्स्वशब्देन दन्तमूलाद् उपरिष्टाद् उच्छ्रूनः प्रदेश उच्यते"[30] इति। सोमयार्येणापि उक्तं "बर्स्वेष्विति दन्तपङ्क्तेरुपरिष्टाद् उच्चप्रदेशेष्वित्यर्थः"[31] इति। पुनश्च "बर्स्वा नाम रेफटवर्गस्थानयोर्मध्यप्रदेशाः"[32] इति गार्ग्यगोपालयज्वा।

रेफस्योच्चारणस्थानं बर्स्वमिति केषाञ्चित् आचार्याणां मतम्। तथा च ऋक्प्रातिशाख्ये उक्तम् "रेफं बर्स्वम् एके"[33] इति। तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये ऋकारस्य कारस्य च उच्चारणस्थानं बर्स्वमित्युक्तम्। तथाहि "उपसंहृततरे च जिह्वाग्रम् ऋकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसंहरति।"[34] इति। ऋकारस्य कारस्य कारस्य च उच्चारणार्थं हनुद्वयस्य परस्परोपश्लेषं कृत्वा जिह्वाग्रस्य उपसंहारः बर्स्वस्थाने कर्तव्यः इत्यर्थः।

ऋकारोच्चारणस्थाननिरूपणे निष्कर्षस्तु एवमस्ति यत् तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसारेण ऋकारस्य उच्चारणस्थानं बर्स्वमित्युच्यते। अन्येषाञ्च प्रातिशाख्यानां मतानुसारेण ऋकारस्य उच्चारणस्थानं जिह्वामूलमित्युच्यते। अस्मिन् काले औत्तराहाः ऋकारस्योच्चारणं रि इत्येवं कुर्वन्ति। दाक्षिणात्याः तु रु इत्येवं कुर्वन्ति। एवमुच्चार्यमाणे तु बर्स्वमिति

---

29. लघुशब्देन्दुशेखरे तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमिति सूत्रव्याख्यानम्
30. ऋक्प्रातिशाख्ये उव्वटभाष्यम् – 1/46
31. तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये त्रिभाष्यरत्नम् – 2/18
32. तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये वैदिकाभरणभाष्यम् – 2/18
33. ऋक्प्रातिशाख्यम् – 1/46
34. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् – 2/18

स्थानम्। पुनश्च दाक्षिणात्यरीत्या ऋकारस्य रु इत्युच्चारणकाले हनुद्वयं परस्परं नैकट्यं भजते। अतः दाक्षिणात्यरीतिः ऋकारोच्चारणे तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसारिणी वर्तते। किञ्च ओत्तराहरीत्या ऋकारस्य रि इत्युच्चारणकाले हनुद्वयात् अधिकं नैकट्यं दन्तपङ्क्तिः भजते। अतः सम्प्रदायमाधारीकृत्य एव ऋकारस्य स्थाननिरूपणं चिन्त्यम्। ऋकारस्य रेकारत्वेन तद्भिन्नत्वेन वा उच्चारणमपि सम्प्रदायानुसारेण तत्र तत्र साधु वर्तते।

पाणिनीयव्याकरणे तु ऋकारस्य रेफस्य च उच्चारणस्थानं मूर्धा इत्युक्तम्। कारस्यापि उच्चारणस्थानं दन्ताः इत्युक्तम्। तथा चोक्तं भट्टोजिदीक्षितेन "ऋटुरषाणां मूर्धा। तुलसानां दन्ताः"[35] इति। एतच्च ध्वनिशास्त्रदिशा अयुक्तं वर्तते। एतच्च प्रक्रियालाघवाय कृतं स्यात्। वस्तुतः स्थाननिर्देशे प्रातिशाख्यादिमतमेव स्वीकरणीयम्।

3.7. ओष्ठौ

उच्चारणस्थानेषु ओष्ठौ अन्यतमौ भवतः। ऋक्प्रातिशाख्ये ओष्ठस्थानीयानां विवरणार्थमुक्तं "शेष ओष्ठोऽपवाद्य नासिक्यान्"[36] इति। उक्तादन्यः भवति शेषः। एतावत्पर्यन्तं ओष्ठभिन्नताल्वादिषु स्थानेषु उच्चरिताः वर्णाः उक्ताः। तत्र अवशिष्टाः ये अनुक्ताः वर्णाः ते शेषाः इत्यर्थः। ते औष्ठस्थानीयाः इत्यर्थः। तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये एतेषाम् ओष्ठस्थानीयानां वर्णानाम् उच्चारणप्रक्रिया सम्यक् प्रदर्शिता। तत्रोच्यते पवर्गस्य उच्चारणकाले ओष्ठद्वयं परस्परं मिलति। वकारोच्चारणे ओष्ठान्तेन सह दन्ताग्रभागस्य स्पर्शः भवति। यथा चोक्तं तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये "ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे"[37] इति। तत्र तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य वैदिकाभरणभाष्यानुसारेण ओष्ठशब्दस्य अधरार्थः उच्यते। तथा चोक्तम् "ओष्ठशब्दोऽत्र अधरपरः"[38] इति। उकारस्य उच्चारणे तु ओष्ठद्वयस्य उपसंहारः भवति। तथाहि- ओष्ठोपसंहार उवर्णे[39] इति।

उपध्मानीयस्यापि उच्चारणम् ओष्ठे भवतीति उक्तम्। तच्च तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य "स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण" इत्यस्मिन् सूत्रे प्रतिपादितम्। वाजसनेयिप्रातिशाख्ये ऋक्तन्त्रे चापि उपध्मानीयस्य ओष्ठस्थानमुक्तम्। तथाहि "उवोपोपध्मा ओष्ठे"[40] इति "ओष्ठ्ये वो पू"[41] इति च।

---

35. "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इति सूत्रव्याख्यानम्
36. ऋक्प्रातिशाख्यम् - 1/47
37. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् - 1/43
38. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य वैदिकाभरणभाष्यम् - 1/43
39. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् - 2/24
40. वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - 1/70
41. ऋक्तन्त्रम् - 9

3.8. उरः

स्थानत्वेन उरसः उल्लेखः सर्वत्र नैव दृश्यते। केवलम् ऋक्प्रातिशाख्ये ऋक्तन्त्रे च तस्य स्थानस्य उल्लेखः दृश्यते। तत्र ऋक्प्रातिशाख्ये केषाञ्चित् आचार्याणां मतानुसारेण हकारस्य विसर्जनीयस्य च स्थानमुरः इत्युक्तम्। तत्र उरःस्थानीयानां वर्णानां विवरणार्थं सूत्रद्वयं तावत्- "प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्। केचिदेता उरस्यौ।"[42] इति। एतयोः सूत्रयोः व्याख्यानावसरे आचार्येण उवटेनोक्तं यत् ऊष्मणां मध्ये प्रथमो हकारः पञ्चमश्च विसर्जनीयः इत्येतौ द्वौ कण्ठस्थानौ वेदितव्यौ। परन्तु केषाञ्चित् आचार्याणां मते एतौ द्वौ हकारविसर्जनीयौ उरःस्थानीयौ भवतः।

ऋक्तन्त्रे विकल्परूपेणैव विसर्जनीयस्य उच्चारणस्थानमुरः इत्युक्तम्। तथाहि- "उरसि विसर्जनीयो वा"[43] इति।

ह्विटनिमहोदयोऽपि एतन्मतं समर्थयति। तत्र तेनोक्तं येषां मते एतयोः उच्चारणस्थानमुरः तेषामेतादृशं सूक्षतरं विवेचनं प्रशंसार्हम्। कारणं हि एतयोः उच्चारणे मुखात् केवलं वायुः निर्गच्छति। मुखविवरकण्ठयोः न किमपि कार्यमनयोः उच्चारणे।

4. उपसंहारः

शिक्षाप्रातिशाख्यादिषु बहूनि स्थानानां नामानि प्राप्यन्ते। तानि तावत् कण्ठः, उरः, जिह्वामूलम्, तालु, मूर्धा, शिरः, दन्तमूलम्, दन्ताः, बर्स्वम्, ओष्ठौ, हनुमूलम्, हनु, जिह्वाग्रः, नासिका मुखनासिका चेति। एतेषु कण्ठः, जिह्वामूलम्, तालु, मूर्धा, दन्तमूलम्, बर्स्वम्, ओष्ठौ, उरः चेति अष्टानां स्थानानामेव विवरणं शिक्षाप्रातिशाख्यानुसारमत्र प्रदर्शितम्। एतेषां विवरणावसरे एव अन्यानि स्थानान्यपि आलोचितानि। जिह्वाग्रादीनां तु सचलाङ्गत्वेन करणत्वमिति बोध्यम्। व्याख्यानावसरे आगताः विरोधाः अपि तत्र तत्रैव पाणिनीयव्याकरणानुसारेण परिहृताः इति शम्।

ग्रन्थपरिचयः

1. आचार्यः, शिवराजः। (2004)। *पाणिनीयशिक्षा।* कौण्डिन्न्यायनः (टीका.)। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।
2. इन्द्रः। (1991)। *प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन।* वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन।
3. कौण्डिन्नायनः, अमोदवर्धनः; कौण्डिन्न्यायनः, प्रमोदवर्धनः; कौण्डिन्न्यायनः सुमोदवर्धनः। (2002)। नारदीयशिक्षा। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।

---

42. ऋक्प्रातिशाख्यम् - 1/39-40
43. ऋक्तन्त्रम् - 3

4. चट्टोपाध्यायः, अमरकुमारः (सम्पा.)। (2008)। *ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्।* कलकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार।

5. चतुर्वेदी, आर्. एम्.। (2003)। *वैदिकशिक्षास्वरूपविमर्शः।* वाराणसी : सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः।

6. झा, नरेशः (सम्पा. टीकाकारः)। (2009)। *याज्ञवल्क्यशिक्षा।* वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

7. त्रिपाठी, रामप्रसादः (सम्पा.)। (1989)। शिक्षासंग्रहः। वाराणसी : सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयः।

8. नागेशभट्टः। (2012)। लघुशब्देन्दुशेखरः *(सुबोधिनीव्याख्योपेतः)*। मिश्रः, विश्वनाथः (सम्पा.)। दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।

9. पाणिनिः। (2017)। पाणिनीयशिक्षा *(शोधोपलब्धिपूर्णया वेदाङ्गःशिक्षाविमर्शाख्यया संस्कृतव्याख्यया नारायण्याख्यया हिन्दीव्याख्यया च समेता)*। कौण्डिन्न्यायनाः, आमोदप्रमोदसुमोदाः (सम्पा.)। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।

10. पाणिनिः। (2016)। पाणिनीयशिक्षा *(शिक्षाप्रकाशपञ्जिकावङ्गानुवादसहिता)*। बन्द्योपाध्यायः, अशोककुमारः (सम्पा.)। कोलकाता : सदेश।

11. भट्टोजिदीक्षितः। (1966)। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी *(लक्ष्मीव्याख्योपेता)*। पञ्चोलिः, श्रीबालकृष्णशर्मा (सम्पा.)। वाराणसी : मोतिलाल बनारसी दास।

12. भट्टोजिदीक्षितः। (2010)। *वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमया तत्त्वबोधिन्या च टीकाभ्यां भूषिता)*। शर्मा, गिरिधरः; शर्मा, परमेश्वरानन्दः (सम्पा.)। वाराणसी : मोतीलाल बनारसीदास।

13. मिश्रः, युगलकिशोरः (सम्पा.)। (1997) वाजसनेय प्रातिशाख्य : एक परिशीलन। वाराणसी : सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः।

11. वर्मा, वीरेन्द्रकुमारः (सम्पा. टीकाकारः)। (2007)। शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यम् अथर्वा-वाजसनेयि-प्रातिशाख्यम्। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।

15. वर्मा, वीरेन्द्रकुमारः (सम्पा. टीकाकारः)। (2007)। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।

16. शास्त्री, पट्टभिरामः (सम्पा.)। (2004)। व्यासशिक्षा। वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (75-83) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्सार्थम् ओषधीनां महत्वम्

-डॉ. स्मृति सरकार

संक्षिप्तसारः

सभ्यतायाः आदितः मानवाः रोगस्य तथा तस्य निवारणार्थं विविधानामुपायेन विविधप्रयत्नं कुर्वन्ति। अतः मनुष्यानाम् एवंविधा प्रवृत्तिः अनन्तरे चिकित्स्याविज्ञानरूपेण प्रतिष्ठिता। अस्य विज्ञानरुप- प्रवृत्तिकर्मेषु भारतवर्षे आयुर्वेद-पद्धतिः अन्यतमा। केवलमेव आयुर्वेदचिकित्सामाध्यमेन पंचभूतात्मकशरीरस्य रोगव्याधिः दूरीभूता भवति। सहस्त्रवत्सरपूर्वं आविष्कृतम् ईदं शास्त्रज्ञानम् अद्यतन- समाजे अपि मनुष्यानां रोगनिवारणे समर्थीभूतम्। आयुर्वेदशास्त्रे विविधाः प्रकाराः चिकित्साः प्रचलिताः, तासु ओषधी-चिकित्सा अन्यतमा। वनस्पतिभिः या ओषधिः प्राप्यते, सा रोगदूरीकरणे समर्था भवति, तस्मादुच्यते, **"ओषं रुजं धयति इति ओषधिः"।** ओषधेः समर्थकाः शब्दा एव वीरुधः, वनस्पतिः भेषजः इत्यादयः। विविधशास्त्रे अपि बहवः ओषधयः व्यवहृताः। तत्र ओषधीनामुपयोगः पृथक् पृथक् दृश्यते। या ओषधिः आयुर्वेदचिकित्सायां विशेषरुपेण व्यवहृता। एतदर्थम् ओषधीचिकित्सा नाम पृथक् चिकित्सा प्रसिद्धा।

प्राचीनकालवद् आधुनिककालेऽपि विविधशास्त्रे बहूनाम् ओषधीनामुल्लेखः प्राप्यते। या ओषधिगुणयुक्ता तथा च या वारैकं फलं धृत्वा म्रियते, सा ओषधि इति। आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्सामाध्यमरूपेण ओषधीनां बहुप्रकाराः उपयोगिताः सन्ति। एतासु ओषधिषु अगुरुः, माधवीलता, गुग्गुलः, अर्जुनः, अमृतलता च अन्यतमाः। एतासाम् ओषधीनाम् 'अगुरुः' नाम वृक्षस्य काष्ठस्य ओषधीगुणम् अनवद्यम्। अस्मात् काष्ठाद् उत्पन्नः धुमः दुर्गन्ध-विष-जीवानुनाशे च समर्थः। अन्यानां वनस्पतीनामपि महती भूमिका अस्ति।

'कोरोणा' नाम महामारिकाले भारतवर्षे बहवः स्वास्थ्यसंस्थाः 'कोरोणा' नाम गुरुरोगस्य निवारणार्थे सदा प्रयत्नशीलाः आसन्। अधुनापिद ताः संस्थाः आयुर्वेदिक-ओषधिविषये यथोचितं परामर्शमपि प्रयच्छन्ति। अस्याः प्रतिषेधकटिका अधुना प्रचलिता दृश्यते। गवेषकाः बहुप्रयत्नेन ओषधीनाम् आविष्कारं कुर्वन्ति, तेषां कठोरप्रचेष्टा अस्माकं कृते आगमिनि दिवसि अवश्यमेव फलवती भविष्यति।

अतः वर्तमान-गवेषणाप्रबन्धे प्राचीनतः अधुनापि विविध-ओषधि-माध्यमेन केन

---

* संस्कृतविभागः, गोबर्धनहिन्दूविश्वविद्यालयः, कोलकाता, पश्चिमबंगालः।

प्रकारेण चिकित्सा प्रचलिता, तस्याः उपयोगिता का अस्ति, एतद्विषये विषदीकृता आलोचना भविष्यति इति दिक्।

सूचकः शब्दः – आयुर्वेदः, ओषधी–चिकित्सा, अगुरुः, माधवीलता, अमृतलता, गुग्गुलः, तुलसी च इत्यादयः।

1. भूमिका–

प्राचीनकालादेव भारतवर्षः आयुर्वेदचिकित्सायां सुप्रसिद्धरेव। परन्तु कदा आयुर्वेदचिकित्सा सुचारूपेण समाजे आगच्छति स्म, कदा वा अस्याः समुन्नतिरभवत्, एतत् सम्यग्रूपेण न ज्ञायते। आयुर्वेदशास्त्रे बहुविधचिकित्सासु ओषधिचिकित्सा अन्यतमा।

1.1 ओषधीनां परिचयः

सामान्यतः ओषधीनाम् अर्थः क्षुद्रः वृक्षः, परन्तु विशिष्टार्थः या रोगनिवारणे समर्था भवति। कालिदासस्य कुमारसम्भवमानुसारतः या स्नेहव्यतिरेकं रात्रौ ज्योतिरूपेण प्रतिभाति सा ओषधिः[1]। ओषो इति रसः, अतः यासां रसो विद्यते सा ओषधिः। चरकसंहितायाम् ओषधेः वैशिष्ट्यमुल्लिखितम्[2]। वैदिकसाहित्ये ओषधिचिकित्साविषये विविधानि प्रमाणानि सन्ति। प्राचीनकालादेव मानवाः शरीरविषये यत्नशीलाः आसन्। तस्मात् वेदेषु ओषधीनामुद्दिश्य विविधाः प्रार्थनाः दृश्यन्ते। ऋग्वेदे ओषधिः मातारूपेण पूज्यते, अपि च अत्र सम्पूर्णमेकं सूक्तं केवलम् ओषधिविषये वर्तते[3]। अथर्ववेदे बहवः वनस्पतयः ओषधिरूपेण व्यवहृताः[4]। परन्तु मनुसंहितायाम् ओषधिवनस्पतयोः प्रभेदः पृथक्रूपेण दृश्यते[5]। एतेषां वनस्पतीनामुपयोगः पृथक् अस्ति, परन्तु आयुर्वेदशास्त्रे विशेषरूपेण ओषधेः व्यवहारः परिलख्यते। एतदर्थं ओषधिचिकित्सा नाम भिन्ना चिकित्सा पद्धतिः प्रचलिता।

1.2) ओषधीनाम् उत्पत्तिस्थाम् ओषधीनां संख्या, तासाम् उत्पत्तिस्थानं च वैदिककालात् ज्ञायेते। ऋग्वेदे ओषधीनां संख्याः शतम् इति[6]। अस्याः उत्पत्तिस्थानं हिमालयरेव मन्यते। परवर्तिनि कालेऽपि चरकसंहितायां हिमालयः ओषधेः सम्यगुत्पादन–स्थानरूपेण निर्दिश्यते[7]।

2. प्राचीनकाले ओषधिचिकित्सा–

आयुर्वेदविषये वेदे तथा स्मृतिशास्त्रे, पुराणे, चरकसंहितायां, शुश्रुतसंहितायां, विविधकाव्ये, नाटके च बहवः चर्चाः भवन्ति, एतदर्थं बहवः ग्रन्थाः अपि सम्पादिताः[8]। परन्तु अथर्ववेदे आयुर्वेदस्य वर्णना अतिविस्तारेण परिलक्ष्यते। अतः आयुर्वेदः अथर्ववेदस्य उपांगरूपेण चर्चितः। आयुर्वेदे विविधचिकित्सासु ओषधिचिकित्सापि वर्णिता। अथर्ववेदे बहवः रोगाः दृश्यन्ते, ये खलु रोगाः केवलं ओषधिचिकित्सायाम् उल्लिखिताः[9]। एतेषु

कुष्ठरोगः, मनोरोगः, क्लीवरोगः, मधुमेहरोगश्च अन्यतमाः, ऋग्वेदे अथर्ववेदे च दृश्यते शरीरस्य निर्दिष्टे अङ्गे ओषोधिसेवनेन व्याधिः दुरीभूतो भवति[10]। यजुर्वेदे अपि ओषधीनां महत्वपूर्णा भूमिका दृश्यते। ओषधिः अत्र श्रेष्ठद्रव्यरूपेण प्रतिष्ठिता[11]। एतासाम् ओषधीनां बहवः वर्गाः सन्ति। तत्र चरकसंहितायाम् अस्या वर्गाः उल्लिखिताः[12]।

ओषधिचिकित्सायां वैद्य-भिषक् अपि नियुक्तवान्। ऋग्वेदानुसारे यो वैद्यः ब्रह्मज्ञानं धृतवान्, सः एव प्रकृतः वैद्यरुपेण ज्ञातः[13]। अश्विनद्वयः रुद्रः च वैद्यभिषकरूपेण प्रसिद्धाः आसन्। ते एव देवतानां चिकित्सकाः भवन्ति। तत्काले अपि ओषधेः क्रय-विक्रयव्यवस्था प्रचलिता, यया वैद्यः तस्य जीवनं निर्वाहति।

ओषधीनाम् उपयोगविषये प्राचीनकाले बहवः चर्चाः दृश्यन्ते। वेदे बहूनां जीवनदायक -ओषधीनाम् उल्लेखः प्राप्यते। एतासाम् ओषधिगुणं विविधं, तन्मध्ये पिप्पली, अर्जुनः, कर्करी, हरिणश्रृङ्गः च अन्यतमाः। पिप्पली क्षयरोगं, वातरोगं, उन्मादरोगं च निवारयति[14]। हरिणश्रृङ्गस्य वल्कलेन प्रधानतः चर्मरोगं, कुष्ठरोगं च दुरीभूतौ[15]।

3. आधुनिककाले ओषधिचिकित्सा -

ब्रिटिश-शासनकाले आयुर्वेदशास्त्रस्य विधिवत् शिक्षा तथा अस्य शास्त्रस्य उन्नतिविषये अधिका चिन्ता मा कृता। परन्तु भारतवर्षस्य स्वतन्त्रतालाभात् परतः आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्साविषये पुनः प्रयत्नः परिदृश्यते। तस्मात् अस्य महद्गुरुत्वमनुभूयः प्राचीनकालवत् वर्तमाने बहवः चर्चाः भवन्ति। आयुर्वेदचिकित्सार्थं बहवः स्वास्थ्यसंस्थाः चिकित्सालयाः च निर्मिताः। एतासां संस्थायां अधुना अनेकाः गवेषकाः अपि नियुक्ताः दृश्यन्ते। तासु अधुना सर्वाधिकप्रचलिता संस्था एव Ministry of Health and Family Welfare इति Ministry of Ayush इति च अपरामहत्त्वपूर्णा संस्था[16]। भारतवर्षे एव सर्वाधिकाः वनस्पतयः ओषधयो वा उत्पद्यन्ते। यद्यपि सप्ताधिकासहस्रतमाः वनस्पतयः केवलमेव व्याधिनिवारणे व्यवहृताः। भारतवर्षस्य आञ्चलिकप्रान्ते वासकारिणः बहवः संख्यकाः जनाः प्रधानतः ओषधीनामुपरि निर्भरशीलाः आसन्। अतः तत्र अधिकाः आयुर्वेदिकचिकित्साः भवितुं शक्यन्ते इति धारणा अस्ति।

कोरोणासंकटकाले चिकित्साक्षेत्रे बहवः प्रचेष्टाः दृश्यन्ते स्म। एतदर्थं चिकित्सकाः अपि कठोरप्रचेष्टां कुर्वन्ति। सरकारिप्रतिवेदनात् ज्ञायते, करोणाटिका सुलभ्यं भवितुम् अहर्ति। सपिधनात् परतः माननीयप्रधानमंत्रीमहोदयेन सर्वेषां जनानां कृते उपदेशितं यत्, आयुष इति आयुर्वेदिकसंस्थायाम् उपदेशस्य अनुसरणं कर्तव्यम्। इयं संस्था सदैव शारीरिकशक्तिबर्धनार्थं गृहकर्मणि व्यवहृतस्य बहुप्रकारस्य आरोग्यद्रव्यस्य व्यवहारनिमितत्वं परामर्शं प्रयच्छति।

4. ओषधीनां महत्वं प्राचीने आधुनिके च -

आधुनिककालेऽपि विविधशास्त्रे बहूनां ओषधीनामुल्लेखः दृश्यते। एतासां विविधं महत्वम् आयुर्वेदशास्त्रे अस्ति। एतासु ओषधिषु अगुरुः, माधवीलता, गुग्गुलुः, अर्जुनः, मातृकालता च अन्यतमाः। अत्र तासाम् ओषधीनां स्वरूपं तथा महत्वं प्रदीयते -

4.1 अगुरुः

अगुरुः इति प्राचीनः संस्कृतशब्दः। अस्य आधुनिकः नाम आगरः इति, विज्ञानसंमतो नाम च Aquilaria Malaccensis इति। अस्य सामान्यार्थः यस्य भारं नास्ति इति, परन्तु प्रकृतया अस्य वृक्षस्य काष्ठम् अतीव भारयुक्तम्। कालिदासस्य ऋतुसंहारे अगुरुवृक्ष-मुल्लिखितम्। अस्य प्रधानोपयोगो हि धूमः सृष्टिः। अयं धूमः अतीव सुगन्धयुक्तः, नारीणां केशाचर्चार्थम् इमं धूमं व्यवहृतम्। अस्य गुरुत्वम् अनुभूय कालिदासेन ऋतुसंहारे उल्लिखितं यत् - **"अगुरुसुरभिधूपमोदितं केशपासं.....**[17]

अगुरुः (अगुरः)

उपयोगिता-

अगुरो धूममाध्यमेन दुर्गन्धः, जीवाणुः च दुरीभूतौ। अस्य वृक्षस्य वल्कलेन श्वासयन्त्रस्य यकृतस्य च वेदना दूरीभूता। न केवलं ओषधिरूपेण अस्य व्यवहारः दृश्यते। अपि च अनेन लेखनीद्रव्यमपि निर्मितम्। प्रसिद्धः 'आतरो' नाम सुगन्धिः अपि अस्माद् उत्पद्यते।

4.2 अमृतलता

वर्तमाने अमृतलता इति शब्देन सहसामान्यतः परिचयो नास्ति। आधुनिककाले अस्याः नाम तावत् गिलोयः गुरुचिः वा। अस्याः विज्ञानसंमतो नाम एव Trinospora

Cordifolial इति। आयुर्वेदचिकित्सायां 'गिलोयः' इति अमृतवत् कार्यं करोति, एतदर्थम् अस्याः ईदृशं नामकरणम्।

अमृतलता (गुडुची)

उपयोगिता-

इयं डेंगूः, सोइनफ्लूः, मलेरिया इत्यादीनां ज्वरनिवारणे समर्था भवति। न केवलं तत् मानसिकचिंतादूरीकरणे, मधुमेहरोगनिवारणे च समर्था इयम्। अतः इयं बहुमूल्यलता बहुविधरोगनिवारणे समर्था भवति। अस्यां लतायां भिटामिन।, A, C, D, B/12M प्रभृतयः अपि सन्ति, याः खलु बहुविधरोगप्रतिरोधे समर्थाभूताः। एतदर्थं करोना नाम महामारिकाले कदाचिद् इयम् ओषधिरुपेण व्यवह्रियते।

4.3 गुगुलुः

अस्य आधुनिको नाम गुगुलः, विज्ञानसंमतो नाम हि Commiphora Wighti इति। इयमेव व्यवहारोपयोगी ओषधिरूपेण कथ्यते। गुगुलुः एकप्रकारः गोदविशेषः। अस्य उपयोगिता चरकसंहितायां, शुश्रुतसंहितायां च दृश्यते।

गूगुलुः (गुगुलः)

उपयोगिता-

गुगुलुः प्रधानतः जीवणुनाशनार्थं व्यवहृतः। वाणभट्टेन कादम्वरीकाव्ये अस्य गुरुत्वं वर्णितम्। अत्र श्रूयते, अस्माद् उत्पन्नात् नीलवर्णः धूमः जीवाणुनाशने समर्थः, रक्तपरिशोधणे अपि समर्थभूतः। अथर्ववेदानुसारे ज्ञायते यत् गुगुलुधूमेन यक्ष्गानाशोऽपि भवति[18]।

4.4 माधवीलता

अस्याः विज्ञानसन्मतो नाम Hipatage Beghalensis इति। अस्याः उल्लेखः कालिदासेन अभिज्ञानशकुन्तलायां कृतः[19]। अतीव मनोरमा इयं लता पुष्पेण शोभिता दृश्यते। तस्मात् विविधकाव्यसाहित्ये अस्याः उल्लेखः दृश्यते[20]।

माधवीलता (हालदावेलः)

उपयोगिता-

अस्याः ओषधेः काष्ठं, पुष्पं, पत्रम् इत्यादयः आयुर्वेदिक-ओषधिरूपेण व्यवहृताः। आयुर्वेदशास्त्रानुसारे इयं स्मृतिशक्तिबर्धने, ज्वरप्रदाहनिवारणे, प्रश्वासक्षमताबर्धने च समर्थभूता।

4.5 तुलसी

विज्ञानसन्मतो नाम Ocimum Tenuiflorum इति। महाभारतानुसारे इयं ओषधिः पुत्रवत् परिपालानं कर्तव्यम्[21]। पद्मपुराणानुसारे तुलसीपत्रस्य पुष्पं, **शाखा, फलं, मूलं च सर्वे उपदायकाः सन्ति**[22]। अस्याः बहवः भेदाः सन्ति, यथा - रामतुलसी, कर्पूरतुलसी, कृष्णतुलसी, वानतुलसी च इत्यादयाः। इमाः भिन्नाः अपराः बहुप्रकाराः भेदाः सन्ति। अत्र निम्मे क्रमेण चतुर्विधानां तुलसीपत्रानां चित्रं प्रदीयते।

तुलसी (रामतुलसी, कर्पूरतुलसी, कृष्णतुलसी, वानतुलसी च)

उपयोगिता -

तुलसी मधुमेहे, दुश्चिन्तानिवारणे, रक्तचापे, जीवाणुनाशे अपि समर्थाभूता। अथर्ववेदे ओषधिरूपेण तुलस्याः उपयोगिता वर्णिता। विविधानां तुलसीनां विविधाः उपयोगिताः सन्ति, यथा -

4.5.1 रामतुलस्याः उपयोगिता -

तुलसी पत्रेण ज्वरं, प्रत्तिश्यायं, शैत्यं दुश्चिन्तां च निवारयति। अतः तुलसी प्रधानतः अस्माकं कृते उपजीवकरूपेण कार्यं करोति।

4.5.2 कर्पूरतुलस्याः उपयोगिता-

इयं तुलसी प्रधानतः प्रतिजीवाणुनाशे, प्रतिकर्कटनाशे समर्था भवति।

4.5.3 कृष्णतुलस्याः उपयोगिता-

अनया तुलसीपत्रेण ज्वरं प्रत्तिशायं, चर्मरोगं च दुरिभूतौ, कीटपतङ्गाः अपि अनया दूरीकृताः भवन्ति।

4.5.4 वानतुलस्याः उपयोगिता-

इयमेव एकोपजीवकरूपेण कार्यं करोति। प्रधानतः इयं रक्तचापं निवारयति अपि च पाचने सहायतामपि करोति।

5 उपसंहारः

रोगनिवारणार्थं तथा तस्य दुरिकरणार्थं च प्राचीनकाले मानवाः प्राकृतिक-खनिज-

सामुद्रिक-प्राणीज-उद्भिजवस्तूनामुपरि अधिकाः निर्भरशीलाः आसन्। एतेषु उद्भिजेषु ओषधेः उल्लेखः प्राप्यते। अधुनापि एताः ओषधयः बहुस्थाने परिलक्ष्यन्ते, यस्याः गुरुत्वम् अनवद्यमेव। इदं गुरुत्वंक्रमशः बर्धते, यस्माद् अस्माकं देशे तथा च बहिर्देशे ओषधिमाध्यमेन चिकित्सापि प्रचलिता। एवमपि ज्ञायते, आयुर्वेदिकपरीक्षा कोभिड-19 इति रोगीनां कृते अपि सम्भवति स्म। न केवलम् तस्मिन् संकटे काले सदैव अस्माकं शरीरस्य शक्तिबर्द्धनमेव आवश्यकम्। यतः कोभिड-19 इत्यस्य प्रभावः अधुनापि विद्यते। अतः केवलम् आयुर्वेदिक-ओषधिसेवनेन एतत् सम्भावितं भवति। अधुना दक्षिणभारतस्य बहुराज्ये ओषधिमाध्यमेन चिकित्सापि प्रचलिता। आयुर्वेदिक-ओषधिमाध्यमेन चिकित्सा आगामिनि दिवसेषु सर्वत्र फलवती भविष्यति इति आशा अस्ति। अन्ते च वक्तव्यं यत्, ओषधिः मनुष्यजीवने सुखं ददाति, तस्मात् ऋग्वेदे ओषधिसेवनेन सर्वरोगमूलं दुरीभूतम् इति कथितम्, श्रूयते अत्र -

"यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हयोष॑धी॒हस्तं॑ आद॒धे।
आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒॒ः गृभो॑ यथा"[23]॥

सन्दर्भ सूची -

1. "...यत्र ओषधयो राजन्यामतैलपूराः सूरतप्रदीपः।", कुमारसम्भवकाव्यम्, 1/10।
2. चरकसंहिता, 1
3. "या ओष॑धी॒ः पूर्वा॑ जा॒ता दे॒वेभ्यः .... श॒तं धामा॑नि स॒प्त च।।", ऋग्वेदः,10/97/1।
4. अथर्ववेदः, 4/37/4-6
5. मनुसंहिता, 1/46-47
6. "....शतं धामनि सप्त च।" ऋग्वेदः,10/97/1
7. चरसंहिता, 1
8. अत्रिदेव, आयुर्वेद का बृहद् इतिहास, लोख्नोउ, 1976।
9. तदेव, 1/12, 1/25
10. अथर्ववेदः, 2/33/5, ऋग्वेदः, 10/164/4-6।
11. यजुर्वेदः, वाजसनेयी-संहिता, 12/75-79।
12. चरकसंहिता, 1
13. ऋग्वेदः, 10/19/22
14. अथर्ववेदः, 6/109/1-3
15. अथर्ववेदः, 3/7/1-3
16. WWW.Ayusyaayurveda.Com
17. ऋतुसंहारः, 4.5
18. अथर्ववेदः,19/35/1-3
19. अभिज्ञानशकुन्तलम्, 3/65

20. तदेव, 7/65
21. महाभारतम्, अनुपर्व, 58/51
22. पद्मपुराणम्, उत्तरकाण्डम्, 24/2
23. ऋग्वेदः, 10/97/11

Bibliography :

- *Agnivesa's Charaka Samhita,* Ed. & trans.(English) with the Comm. of Chakrapanidatta's *Ayurveda Dipika,* Ram Karan Sharma, Vol. XCIV(Sutra Sthana), Varanasi : Chowkhamba Sanskrit Series office, 1983.
- *Aitareya Brāhmaṇa* Ed. & trans.(Hindi) with the Comm. of Vedārtha-*Prakāśa* of Sāyaṇācārya, Sudhakar Malaviya, 2 vols, Prachyabharati Series 14-15, Varanasi: Tara Printing Works, 1983.
- *Atharvaveda Saühitā (Śaunakīya),* Ed. with the comm. of Sāyaṇācārya, Vishva Bandhu, Vishveshvaranand Institute Series 13-16, 5 vols, Hoshiarpur : Vishveshvaranand Vedic Research Institute, 1960-64.
- Atrideva, *Sanskrit Sahitya me Ayurveda* (Hindi),Venaras : Bharatiya Jagyapeeth Kashi, 1956.
- Banerjee, Manabendu, *Ancient Indian Science and Technology*, Kolkata : Sanskrit. Sahitya Parishad, 1960, rpt., Krishnalal, Mumbai : Mubaimitrakhya, 2003.
- *Manu-Smriti,* Ganganath Jha, Kolakata : Asiatic Society, 1932.
- Upadhyay, C.S., *Vaidik Kośa*, 3 vols, Delhi : Nag Prakashak, 1995.
- Singh, Ranjit, *The encyclopedia of Ayurvedic Dictionary*, Vol. I, Itava: Hoshiarpur, 1934.
- https:// www.sciencedirect.com

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (84-90) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

प्रधानोपनिषत्सु मानवीयमूल्यबोधः

-अलोकबेपारी*

प्रस्तावना

मानवस्यसमाजस्य तथा च राष्ट्रस्य भित्तिरस्ति मूल्यबोधः। शीलार्थे प्रयुक्तमूल्यशब्दो 'मूल्+यत्' इति प्रक्रियात्वात्सञ्जायते, पुनश्च आङ्गलभाषायां 'value' इत्युच्यते। 'Valerie' इत्यतः 'value' इति पदन्निष्पद्यते, यस्याऽर्थस्तावत् 'strong' इति। मूल्यं तादृशः कश्चन गुणः, येन व्यक्तेर्वस्तुनश्चोपयोगीता-महत्त्वं प्रकाश्यते। 'सि. वि. गुड्' महोदयैरुक्तम्- "मूल्यं तच्चारित्रिकविशिष्टं भवति, यन्मनोवैज्ञानिकं सामाजिकं सौन्दर्यबोधकं दृष्ट्वा च महत्त्वपूर्णम्। प्रायस्सर्वेऽपि विचारा मूल्याभीष्टचरित्रं स्वीकुर्वन्ति" इति। अतस्संस्कृतवाङ्मयेषु 'मानवीयमूल्यबोध' इति पदेन सत्य-अहिंसा-विश्वास-दया-दान-श्रद्धा-भक्त्यादिसद्गुणाः चर्चितास्सन्ति। सद्गुणानां परिपालनाय मूल्यबोधस्साधनं भवति, अतो जगति शीलेन मूल्यबोधेन वा न कश्चिदसाध्यः। अतएव वक्तुम्पारयति यत्-

"शीलेन हि त्रयोलोका शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्"॥ इति।।[1]

उपनिषद्-

'उप'-उपसर्गपूर्वकात् 'नि'-उपसर्गपूर्वकात् सद्-धातोरुत्तरात् क्विप्-प्रत्यये संयोगे उपनिषदिति पदमुत्पद्यते। उप सामीप्येन नितरां सीदन्ति प्राप्तुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषदिति। अतस्सांसारिकानर्थकस्य कारणमविद्या, तद्विनाशकशास्त्रमस्त्युपनिषदिति नाम्नाऽभिधीयते। प्रसङ्गेऽस्मिन् अद्वैतवेदान्तस्य प्रवर्तकश्रीशङ्कराचार्येण बृहदारण्यकोपनिषत्सम्बन्धभाष्ये एवम्प्रपञ्चितम्- **"सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां स हेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्"**।[2] इति।

---

* अनुसन्धाता, सांख्ययोगविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः।

1. महाभारतम्,12/124/15
2. बृहदारण्यकोपनिषत्सम्बन्धभाष्यम्, 1/1

उपनिषत्संख्यामाश्रित्य संस्कृतवाङ्मयेषूच्चावचसिद्धान्तो दरीदृश्यते। मुक्तिकोपनिषदि अष्टोत्तरशतोपनिषदां नामानि विद्यन्ते, तासु द्वादशोपनिषदः प्रधानाः प्राचीनतमाश्च। तासां नाम ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्य-वृहदारण्यक-कौषितकि-श्वेताश्वतरोपनिषदिति।

प्रधानोपनिषत्प्रतिपादितो मानवीयमूल्यबोधः

ब्रह्मविद्या ब्रह्मज्ञानञ्चोपनिषदाम्मुख्यप्रतिपाद्यविषयोऽस्ति, विषयमिमम्प्रतिपादयन्तो मानवीयमूल्यबोधस्योच्चावचोत्कृष्टनिदर्शनमुपस्थापितवन्तो विश्रुतमहर्षिगणाः। अधोलिखिते यथामति विषयोऽयमालोच्यते मया-

शुक्लयजुर्वेदीयेशावास्योपनिषत्प्रथममन्त्रे सन्तुष्टिस्सन्तोषोऽस्तेयश्चेत्येतेषामुल्लेखोऽवलोक्यते। तत्रोच्यते यत्- **"तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धनम्"**।[3] इति। अतएव स्वस्याऽपरस्य च धनसम्पत्तिं प्रत्यधिकाकाङ्क्षा कदापि न कर्तव्या। स्पृहां परित्यज्य यत्प्राप्यते लभ्यते वा तत्र सन्तुष्टिस्स्यात्। पुनश्चाऽऽत्मनिष्ठपूर्वकात्परिश्रमपूर्वकाच्च यद्धनसम्पत्तिमाप्नोति, तद्द्वारा जीवनं परिपालयेत्। यतो ह्यधिकाकाङ्क्षायुक्तमनुजास्तदीयाकाङ्क्षापूर्त्यर्थं समाजस्याऽहितकरकार्यं सम्पादयन्तीति नीतिबोधस्समुपलभ्यतेऽस्माभिरत्र।

उपनिषदो मनुजान् संसाराद्विमुखं भवितुन्नोपदिशन्ति, अपिच मोहमयसंसारेऽवस्थाय शास्त्रविहितंमार्गमाधारीकृत्य मानवः कर्माणि कुर्वन् शतवर्षं जिजीविषेदित्यमूल्यतथ्यमुपदिशन्ति। तदुक्तञ्च-

"कु॒र्वन्ने॒वेह कर्माणि जिजीवि॒षेच्छ॒तꣳसमा॑ः"।
ए॒वं त्वयि॒ नान्यथे॒तोऽस्ति न कर्म॑ लिप्यते॒ नरे॑।[4] इति।।

पुनश्च कञ्चिज्जनम्प्रति घृणाभावो विद्वेषभावश्च न पोषितव्य इति शिक्षाऽप्युपनिषद्भ्यस्समाप्यते। तथा च परिलक्ष्यते- **"स॒र्व॒भू॒तेषु॒ चा॒त्म॒नं ततो॒ न विजु॑गुप्सते"**।[5] इति।

केनोपनिषदस्तृतीयखण्डेऽस्माभिर्दरीदृश्यते यदा परमब्रह्म देवतानामुपरिष्टात्कृपापूर्वकं देवेभ्यश्शक्तिं प्रदत्ते तदा देवता असुरान् पराजयन्ते। परमब्रह्मणः कृपया एतत्कार्यं सम्भवति, तथापि देवतास्तदीयशक्तिभिरसुरान् अजयन्नित्यनुमत्याऽभिमानवशाद्गर्वबोधं कुर्वते। देवतानामभिमानं गर्वबोधञ्च विमोचयितुं परमब्रह्म स्वयं यक्षरूपेणाऽऽविर्भूतो भवति। अतः कदाप्यधिकतया गर्वबोधं न कर्तव्यम्। क्षेत्रेऽस्मिल्लोच्यते-

---

3. ईशोपनिषत्, 1
4. ईशोपनिषत्, 2
5. ईशोपनिषत्, 6

"तद्वैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति"।[6] इति।

पुनश्च शान्तिपाठेऽपि मानवीयमूल्यबोधस्योत्कृष्टनिदर्शनमीक्ष्यते। तत्र गुरुशिष्ययोस्समुचितसम्बन्धोनिर्दिश्यते, यथा- परस्परेण परस्परं प्रति स्नेहमयोऽविद्वेषजनक ईर्षारहितश्च आचरितव्य इति ज्ञानमाप्नुमो वयं। तथा चाऽऽम्नातम्-**"ओं सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै"**।[7] इति।

परिवारक्षेत्रमाश्रित्य विविधमहत्त्वपूर्णोपदेशस्सम्प्राप्यते उपनिषत्सु। यथा- कठोपनिषदि नचिकेता सर्वादौ तदीयपितुः क्रोधं शमितुं वरं संप्रार्थयते। तथा चोक्तम्-

"शान्तसंकल्पः सुमनां यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभि वदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे"।।[8]

इति।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्यपि परिवारसंरक्षणाय प्रार्थना श्रूयते। तत्र रुद्रदेवस्य समीपं पुत्रपौत्रगणाः, अर्जितधनसम्पत्तयः, गावः, अश्वाश्चेति एतान् संरक्षितुं प्रार्थना विद्यते।

मानवीयमूल्यबोधस्याऽपरैकोत्कृष्टसाधनमस्ति अतिथिसत्कारः। अतिथिं प्रत्यात्मनिष्ठापूर्वकं श्रद्धापूर्वकञ्च सेवेतेति अतिथिसत्कारपदस्याऽभिधार्थः। परन्तु यद्युचितव्यवहारं न सम्पादयति, विद्वेषमनोभावञ्च पोषयति तर्हि गृहस्थस्य परिवारस्य च मङ्गलङ्कदापि न सम्भवति। तैत्तिरीयोपनिषद्यपि ऋषिगणाः अतिथिसत्कारस्योपदेशः प्रददते। विषयेऽस्मिन्नुपनिषत्सु लोच्यते-

"आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूश्च सर्वान्।
एतद्धुङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे"।।[9]

इति।।

उपनिषत्सु सत्यभाषणस्योपरिष्टादधिकतया गुरुत्वमारोपितवानासीत्। यतो हि मिथ्यावचनं कदापि न भणितव्यम्, मिथ्यावचनात्शिष्टाचारभङ्गो जायते। शिष्टाचारसंरक्षणमपि मानवीयमूल्यबोधः। अतएव सत्यभाषणम्मानवीयमूल्यबोधस्य विशिष्टाङ्गमस्ति। मनोवाक्कायकर्मभिर्मृषाकुत्सान्वितभाषणं चिन्ताञ्चोत्सृज्य सर्वदा सर्वत्र शिष्टसंयतन्यायसंगतकथपोकथनं सत्यभाषणमित्युच्यते। तथा चोक्तम्महाभारते- **"यद्भूतहितमत्यन्त**

---

6. केनोपनिषत्, 3/2
7. कठोपनिषत्, शान्तिपाठम्
8. कठोपनिषत्, 1/10
9. कठोपनिषत्,1/8

तत् सत्यम्"। इति। अतएव सर्वत्र सर्वदा सत्यं विजयते, न तु मिथ्यां विजयते। तदुक्तञ्च मुण्डकोपनिषदि-

"सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः"।[10] इति।

अतो न केवलं स्वार्थमपि तु अपरेभ्यो हितमूलकं शुभसूचकं मङ्गलप्रदायकञ्च वाक्यं ब्रूयात्। तथा च निगदितमेवम्- **"सत्यं वद। धर्मं चर"**।[11] इति। श्वेताश्वतरोपनिषदि सदाचारेण सत्यभाषणेन संयमरूपतपस्यया च परमात्मानमाप्नुवन्ति साधकाः। इतोऽपि तदुक्तञ्च-

"सत्येनं लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥[12] इति॥

अतएव किञ्चित् फलमीप्सति चेत्सदाचारस्सत्यभाषणञ्च पालनीयमिति नीतिशिक्षाऽऽप्यते उपनिषद्भ्यः।

मानवीयमूल्यबोधेषु श्रद्धायाः विशिष्टस्थानं विद्यते। श्रद्धा नाम चित्तप्रसन्नता, जननी इव कल्याणस्वरूपा च। पुनश्च निष्ठा-आस्था-सम्मान-भक्त्यादयश्श्रद्धापदेनोद्यन्ते। श्रद्धामतिरिच्य किमपि महत्त्वपूर्णकर्मानुष्ठातुन्नार्हति। प्रायस्सर्वासूपनिषत्सु परस्परं प्रति निष्ठा, आस्था, सम्मानः, भक्तिः, विश्वासश्चेति दरीदृश्यतेऽभीक्ष्णम्। उदाहरणस्वरूपं भाषितुमर्ह्यते तैत्तिरीयोपनिषदि-

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव"।[13] इति।

प्रश्नोपनिषदि ऋषिपिप्पलादो मानवीयमूल्यबोधस्य दृष्टान्तमुपस्थापयितुं प्रपञ्चितवान्- **"तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति"**।[14] इति। अर्थात्तपः-ब्रह्मचर्य-श्रद्धादिसद्गुणसमन्वितमनुष्याः परमब्रह्म प्राप्तुमधिकारिणस्सन्ति।

अन्नमस्मदीयजीवनधारकभोजनेष्वन्यतमं प्रधानम्। अन्नेन सर्वाणि भूतानि जायन्ते तथा च अन्नं भूक्ता भूतान्यजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति। तथा चोक्तम्- **"अन्नेन जातानि जीवन्ति"**।[15] इति। इत्यस्मात्कारणादन्नं न निन्देत्, न केवलमात्रमन्नमपिच किञ्चिदपि वस्तु न निन्दितव्यम्। प्रसङ्गेऽस्मिन् तैत्तिरीयोपनिषद्याम्नातमेवम्-

---

10. मुण्डकोपनिषत्, 3/6
11. तैत्तिरीयोपनिषत्, 11/1
12. मुण्डकोपनिषत्, 3/1/5
13. तैत्तिरीयोपनिषत्, 11/2
14. प्रश्नोपनिषत्, 5/3
15. तैत्तिरीयोपनिषत्,3/2

"अन्नं न निंन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्"।[16] इति।

उपनिषत्सु कर्मान्तरवादस्य वर्णनाऽपि परिलक्ष्यते। यथा कर्म तथा फलमिति। अतएव यदि पुण्यकर्म क्रियते तर्ह्यवश्यमेवोत्तमं पुण्यञ्च फलमर्ज्यते। परन्तु पाप-कर्मणाऽहितकरं फलं लभ्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन् प्रश्नोपनिषद्याम्नातम्-

"पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेनं पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्"।[17]

इति।

अनुरूपशिक्षा छान्दोग्योपनिषदि वृहदारण्यकोपनिषदि च प्राप्यतेऽस्माभिः, तथा चोवाच- **"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति"**।[18] इति। अतएवोपनिषत्सु विधिस्वरूपेण शुभकर्म निषेधरूपेण

चाऽशुभकर्मोपदिश्यते ऋषिगणैः।

समुचितमार्गमाश्रित्य न केवलमर्जनमपि तूपयुक्तपात्रेषु दानं मनुजानामपरैको विशेषधर्मो वर्तते। यथा दानं तथा पुण्यार्जनमिति। तथा च श्रीमद्भगवद्गीतायाम्-

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्"।।[19] इति।।

वृहदारण्यकोपनिषदि प्रजापतिः द-इत्यक्षरेण मनुजान् दानं कर्तुमुपदिशति। तदुक्तञ्च- **"अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा इति। व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति"**।।[20] इति।। प्रसङ्गेऽस्मिन् कठोपनिषद्यप्यवलोक्यते यत्यदा विश्वजिदिति यज्ञार्थं दक्षिणास्वरूपंपीतोदकं जग्धतृणं निरिद्रियमनन्दं गां ब्राह्मणेभ्यः प्रददाति तदा नचिकेता पितरमुपदिशतीत्थम्प्रकारं गां दक्षिणारूपेण न प्रदद्यात्। यतोहि सुखकरं व्यवहारयोग्यञ्च वस्तु प्रदद्यादित्यनेन दानकर्ता दानगृहीता च उभययोर्मङ्गलं भवति। अतएवयत्किमपि वस्तु नदद्यात्, केवलमात्रं सुखप्रदायकं हितकरञ्च वस्तु दद्यादिति नीतिशिक्षा सम्प्राप्यते क्षेत्रेऽस्मिन्निति मे मतिः।

विद्वेषमूलकभावमुत्सर्जयेदित्युपदेशोऽपि समुपलभ्यते उपनिषद्भ्यः। प्रश्नोपनिषद्याम्नातमेवं ये कुटिलता कपाटता विद्वेषभावश्च रहितास्सन्ति, तेऽवश्यमेव ब्रह्मलोकमाप्नुवन्ति। अतस्सर्वान् प्रति मित्रसुलभमाचरयेदिति। यथा प्रपञ्चितम्-

---

16. तैत्तिरीयोपनिषत्, 3/7
17. प्रश्नोपनिषद्, 3/7
18. वृहदारण्यकोपनिषद्, 3/2/13
19. श्रीमद्भगवद्गीता,17/20
20. वृहदारण्यकोपनिषद्, 5/2/2

"अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते"।[21] इति।।

मुण्डकोपनिषत्शान्तिपाठे गुरुः, सहपाठी, मानवश्चेत्येतेषाङ्कल्याणार्थं देवतानां समीपं प्रार्थना परिलक्ष्यते। भोगासक्तजनाः भोगप्राप्तुं यदि मिथ्याभाषणङ्कुर्वन्ति तर्हि परमब्रह्मरूपम्महत्फलन्न लभन्ते। अतो निष्कामकर्मण उपदेशोऽपि परिलक्ष्यते उपनिषत्सु, तथा चोवाच–

"सत्येनं लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः"।[22]

इति।।

तैत्तिरीयोपनिषदि नीतिबोधस्योच्चावचदृष्टामीक्ष्यते, यथा– सदाचारपालनम्, अतिथिसत्कारः, सत्यभाषणम्, शान्तिसंस्थापनम्, वेदाध्ययनम्, नित्यहवनप्रदानञ्च। तथा चाऽऽह– **"ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च च स्वाध्यायप्रवचने च"**।[23] इति।

उपसंहारः

"हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते"।[24] इति।

जीवनदशायाम्मनुजा यानि धनसम्पत्त्यादीन्यैश्वर्याणि लभन्ते, कालान्तरेषु क्रमागतं तानि च विनाशसंयुक्तानि भवन्ति। परन्तु सुकर्मख्यात्यादिसद्गुणा युगान्तरेष्वपि वरीवृध्यन्ते, अपि च आमुष्मिकलोकप्राप्तजीवानां माहत्म्यं पुंसयन्ति। अखिलविष्टपे ये जनास्तदीयख्यातीः प्रसिसीर्षन्ति, ते समूल्यबोधं समुचितमार्गेण जीवनम्परिपालयेयुः। यतो हि महाकविभिर्भर्तृहरिभिर्नीतिशतके बभाषे–

"ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्"।[25] इति।।

---

21. महाभारतम्–अनुशासनपर्वः, 115/23
22. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/5
23. तैत्तिरीयोपनिषद्, 9/1
24. कर्णभारम्, 17
25. नीतिशतकम्, 80

अतएवेत्थं वक्तुम्पारयामि यदीशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यादिप्रधानोपनिषत्प्रतिपादितं मूल्यबोधमनुसृत्य मनुजा मानवीयादर्शसमाजेषु शीर्षकासनधारिणो भवन्ति तथा च सपरिवारे समाजे राष्ट्रे ससन्मानंस्वीयस्थानमभिवर्धितुमर्हन्ति।

।। इति शिवम्।।

सन्दर्भग्रन्थसूची-

1. उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरक्षपुर, 2010।
2. उपनिषत्संग्रहः, पण्डितजगदीशशास्त्रिणा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2017।
3. ईशादिनवोपनिषद्, स्वामी प्रखर प्रज्ञानन्द सरस्वती, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2012
4. कठोपनिषद्, स्वामी प्रखर प्रज्ञानन्द सरस्वती, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2014।
5. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरक्षपुर, 2016।
6. छान्दोग्योपनिषद्, डॉ. मनुदेव बन्धु, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2020।
7. प्रश्नोपनिषद्, स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2016।
8. माण्डूक्योपनिषद्, प्रो. कौशलकिशोर श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017।
9. केनोपनिषद्, स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (91-99) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Assertion of Bhartṛhari's Concept of *Śabdabrahma* in Emily Dickenson's poetry

- Dr. Ashima Shrawan*

Abstract

Bhartrihari's concept of *Śabdabrahma*, emphasizing the divine essence of language, finds resonance in Emily Dickinson's poetry. Dickinson's verses reflect a profound reverence for language as a conduit for spiritual exploration. The paper explores how Dickinson transcends conventional meanings through her nuanced use of words, delving into the realm of metaphysical inquiry. Just as Bhartrihari views language as a manifestation of the divine, Dickinson portrays words as vessels of profound truth and insight, capable of illuminating the mysteries of existence. Her poems often grapple with themes of mortality, transcendence, and the ineffable nature of the human experience, echoing Bhartrihari's belief in the transformative power of language to transcend the material world. The paper underscores how Dickinson's poetic oeuvre serves as a testament to the enduring relevance of *Sabdabrahma* in contemporary literature, highlighting the timeless quest for spiritual enlightenment through the medium of language.

Keywords: *Śabdabrahma,* word, meaning, metaphysical, spiritual, language.

In India, knowledge holds a paramount position, deeply intertwined with its rich cultural fabric. Here, culture is conceived as a collection of intricate systems or frameworks, akin to tantras, upon which the societal structures are built. These systems encompass various facets such as dance, language, music, governance, ethics, arts, crafts, painting, sculpture, literature, and more. They find expression through compositions and texts, collectively forming the cultural knowledge of

* Assistant Professor (English), Shri Bhagwandas Adarsh Sanskrit Mahavidyalaya, Haridwar, Central Sanskrit University, New Delhi.

the community. Notably, the abundance of knowledge literature, particularly in Sanskrit, is astounding. Within this tradition, diverse typologies of knowledge exist to classify and organize this vast literary corpus, creating a hierarchy that reflects the validity of different discourses. As a result, there exists a spectrum of knowledge discourses, each possessing relative validity, rather than a singular discourse dominating the landscape.

Kalidasa in *Raghuvansa* observes:

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।[1]

(शब्दों और उनके अर्थों को समझाने के लिए मैं विश्व के पितृरूप शंकर और पार्वती के समक्ष प्रणाम करता हूं, जिका परस्पर सम्बन्ध उतना ही घनिष्ठ है, जितना शब्द और अर्थ का।) Patanjali in his *Mahābhāṣya* also contains the similar view that, "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (31) (The relationship between *Śabda* and *artha* is permanent.)

Bhartrihari, a prominent figure in Indian philosophical thought, delved deeply into the relationship between words (*sabda*) and meanings (*artha*) in his seminal work, the *Vākyapadīya*, dating back to the 5th century. This exploration of language and meaning has been central to Indian intellectual inquiry since the Vedic age. Bhartṛhari posited the concept of the supreme word principle, or *Śabdabrahman*, as the ultimate source and culmination of all manifestation, with the Vedas reflecting this cosmic principle. Grammar, among the disciplines derived from the Vedas, holds a paramount position, leading practitioners towards the realization of Brahman in the form of the supreme word. Grammar, according to this tradition, not only facilitates the understanding of reality through language but also serves as a means of purifying speech and mind.In later grammatical traditions, Indian philosophical grammarians made significant contributions to the field of semantics. The *Vākyapadīya* stands as one of the principal and authoritative works in Sanskrit grammar, offering a comprehensive discussion of the philosophy of grammar. While the *Aṣṭādhyāyī* provides structural rules for the functioning of Sanskrit, the *Vakyapadiya* presents a thorough exposition of the philosophy underlying grammar.Bhartṛhari's assertion in the *Vākyapadīya* that every idea is constituted in language underscores the notion that language shapes our perception of reality. He emphasizes that language, or *śabda*,

plays a central role in cognition, with the universe itself being created through knowledge expressed in language. Bhartṛhari's concept of *śabdabrahman,* the supreme word principle, encapsulates the idea that language is not merely a tool for communication but also a manifestation of ultimate reality. The multifaceted nature of language, where one word can evoke various meanings and interpretations, underscores the complexity inherent in communication. Through the exploration of the nature of words, Bhartrihari elucidates the profound relationship between language and the cosmos, with *śabdabrahman* serving as the foundational principle from which all manifestation arises.

Anādhinidhanam Brahma śabda tattvam yadakṣaram
Vivartate artha bhāvena prakriyā jagto yataḥ.1

The essential nature of the Word is like that of Brahma. It like Brahma is beginningless and endless, the imperishable. Like Brahma it manifests itself into objects and from. Like Brahma, it is the creation of the Universe. Hence, *śabda* is Brahma.

Ekameva yadāmnātam śakti vyapāṣrayāt
Aprathak tvepi śaktibhya: pṛthak tveneva vartate.2

The word is described in the Vedas as Brahma. There is no difference between Brahma and the word. It is also described in the Vedas as One but it is divided on the basis of its powers. It is not different from its powers though it appeals to be different. It manifests itself into objects and from. That's why looks different. Example music. In music all notes (*sa re ga ma pa dha ni*) are one and the same but seem to be different due to different forms. The true significance of the Veda is contained in the syllable 'Om'-The Omkara.

Avyāhataḥ kalā yasya kālaśaktim upāśritāḥ
Janmādayo vikārāḥ ṣaḍbhāvabhedasya yonaḥ.3

There are two powers -the power of Time and the power of creation-which are the cause of the difference. Through the powers of Time and creation come the six transformations, namely, birth, power, result, growth, decay and destruction-the sources of all (these) manifold objects. Example water: drop, wave, bubble, stream etc all because of transformations.

ekasya sarva bījasya yasya ce yama anekadhā
bhoktṛ bhoktavyarūpeṇa bhogarūpeṇa ca sthiti.4

Word or Brahma is the cause of all. It has manifold existence, under the forms of the enjoyer (*bhoktā*), the enjoyed (*bhogya*) and the enjoyment (*bhoga*). Thus, Brahma is the enjoyer (*bhoktā*), the enjoyed (*bhogya*) and the enjoyment (*bhoga*).

Emily Dickinson also talks about the power of word which in Indian context is known as *Śabdabrahma* (realization of the absolute). The power of word is conceived by Emily Dickinson's poem and is remarkable to represent the Indian concept of *Śabdabrahma* i.e. the realization of the absolute through brahma. The most evident characteristic of words, as far as Emily Dickinson was concerned, is their startling vitality. Her poems indicate that she regarded words as organic-separate little entities with a being, growth, and immortality of their own.

A word is dead,
when it is said,
Some say -
I say it just begins to live That day

In the beginning was, the word. Emily Dickinson probably would have accepted a literal interpretation of this opening phrase of the Gospel of St. John. Language and communication exercised an almost hypnotic fascination over her; the power of the individual word, in particular, seems to have inspired her with nothing less than reverence. Such an attitude toward words is an important aspect of Emily Dickinson's approach to poetry in that it partially accounts for her method of composition and helps explain her use of poetic composition to discipline the mystical intuitions which involved her in both ecstasy and suffering of extreme intensity. (Thackery 9)

'A Word is Dead' is a concise and thought-provoking poem by Emily Dickinson, exploring the transient nature of language and the power it holds. Through her characteristic brevity and evocative imagery, Dickinson invites readers to reflect on the limitations of words and their ability to truly convey meaning. The poem begins with a striking assertion: 'A word is dead/When it is said.' The opening line of Dickinson's work challenges our conventional perception of words as static and everlasting. She proposes that once a word is uttered or penned, its essence undergoes transformation, losing its vitality and undergoing a shift in existence. This perspective acts as a poignant reflection on the transient quality of language, highlighting its intrinsic limitations in encapsulating the intricate nuances of human existence.

The second stanza of the poem adds further depth to Dickinson's exploration of language. She writes, 'Some say. / I say it just / Begins to live / That day.' Here, she introduces a counterpoint to the initial assertion, indicating that while a word may be considered dead by some, she believes it actually comes to life at the moment of expression. This contrasting viewpoint adds an intriguing layer of ambiguity, leaving room for interpretation and further contemplation.

The poem continues with an acknowledgment of the power words hold: 'The right to perish / Might be thought / A compensation / For Deafness-.'Dickinson posits that the demise of words might be interpreted as a compromise for the lack of auditory perception. Within this framework, words emerge as entities both potent and delicate. While they wield the capacity to convey significance and foster connections between individuals, they also stand vulnerable to erosion, decay, and eventual silence.This notion underscores the deep-seated importance of language and underscores the potential void felt by those unable to partake in its exchange.

The final stanza of the poem reinforces Dickinson's central theme of the impermanence of words. She writes, 'The only / Secret people keep / Is Immortality.' Here, the poet implies that true immortality lies not in preserving words or linguistic legacies but in the unspoken, the intangible, and the transcendent. By suggesting that the only secret people truly hold is their capacity for eternity, Dickinson challenges our preconceived notions about the enduring power of language.

In 'A Word is Dead,' Emily Dickinson offers a nuanced exploration of language and its limitations. The poem serves as a meditation on the transient nature of words, highlighting both their fragility and their profound impact. Through her concise and evocative verses, Dickinson encourages readers to reflect on the ever-changing nature of communication and the inherent challenge of capturing the depth of human experience through language.

In a famous letter to Thomas Wentworth Higginson in 1862, Dickinson asks, "Are you too deeply occupied to say if my verse is alive? The mind is so near itself, it cannot see distinctly, and I have none to ask. Should you think it breathes, I would be grateful" (Freeman 1). What is interesting about this opening of her letter is the idea that verse can be alive, that it can breathe. There is also a question of seeing: the mind so

near itself that it cannot see distinctly. Great poetry, it seems to me, captures that quality of illumination: words brought to life as we read and write.

Words are not "dead when they are said" as Dickinson knew: they are constantly changing across time and space. Their vitality lies in the thoughts they stimulate. The following poem expresses Dickinson's understanding of this truth:

1. The Poets light but
2. Lamps -
3. Themselves - go out -
4. The Wicks they
5. Stimulate
6. If vital Light
7. Inhere as do the
8. Suns -
9. Each Age a Lens
10. Disseminating their
11. Circumference -

Meanings may change as each age applies its own lens, but Dickinson is saying something more in this poem. Its syntactic structure consists of three lines at the beginning and three lines at the end that frame the five lines in between:

"The Poets light but /

Lamps - /

Themselves - go out - /

..../

Each Age a Lens /

Disseminating their /

Circumference."

Lines 1-3 and lines 9-11 comprise together a coherent thought expressed metaphorically: Although poets die, future ages will keep their poetry alive. The five lines in the middle also divide into two parts that form a complete sentence:

"The Wicks they /

Stimulate /

..../

The Vitality of Words In here as do the /

Suns,"

interrupted by the conditional clause "If vital Light." It is no accident that this line, "If vital Light," occurs in the exact center of the middle section and the exact center of the poem. It serves as central point, the "eye" of the poem (to quote a Chinese saying). The analogy "as do the suns" suggests active agency on the part of the suns in making light inhere. This transitive meaning of the verb inhere is very rare. The word inhere, from Latin in- "in" plus here "to stick, remain fixed," suggests the permanence of creation. Such permanence of poetic creation is thus constrained by the conditional: "If the wicks poets stimulate [in lighting lamps] are vital, then light inheres in them as suns inhere light." The poem reverberates around the words if vital light.

Śabdabrahma, a concept found in Indian philosophy and linguistics, refers to the idea that language, particularly spoken words, holds immense power and can create and shape the universe. Similarly, Emily Dickinson's poetry explores the profound potential of language, employing it as a tool to express her innermost thoughts, emotions, and perceptions. *Śabdabrahma* posits that language has a creative power, capable of manifesting the universe. It emphasizes the significance of sound, pronunciation, and the rhythm of words.In Dickinson's poetry, language is also a creative force, allowing her to construct vivid and imaginative worlds within her verses. She plays with syntax, punctuation, and word choice to evoke complex emotions and images. *Śabdabrahma* incorporates symbolism and mystical elements, connecting words with deeper metaphysical realities and spiritual realms. Similarly, Dickinson's poetry is often imbued with symbolism and mysticism. She employs unconventional metaphors and images, inviting readers to contemplate the transcendent and the mysterious. *Śabdabrahma* recognizes the subjective nature of language and the individual's interpretation of words. It explores the idea that different individuals may perceive and understand words differently. Dickinson's poetry also reflects a deep exploration of perception and subjectivity. Her verses often capture nuanced and personal experiences, presenting a multiplicity of interpretations and

inviting readers to engage with their own perceptions. *Śabdabrahma* engages in linguistic experimentation and analysis, exploring the structure, phonetics, and grammar of language.

Dickinson, too, experiments with language, employing unconventional capitalization, punctuation, and line breaks. Her poems often challenge traditional grammatical structures, emphasizing the rhythmic and sonic qualities of words. *Śabdabrahma* delves into the inner dialogue of the self, examining the relationship between language, thought, and self-awareness.

Dickinson's poetry frequently explores the introspective realm of the self, engaging in a profound inner dialogue. Her verses grapple with themes of identity, mortality, and the complexities of human existence. While *Śabdabrahma* emerges from the Indian philosophical and linguistic tradition, and Dickinson's poetry arises from a Western literary context, both explore the power and potential of language as a means of expression and understanding. They share a deep appreciation for the nuances of words, the richness of symbolism, and the exploration of subjective experience. Both *Śabdabrahma* and Dickinson's poetry invite readers to reflect on the transformative and transcendent possibilities inherent in language and the human spirit.

Works Cited and Consulted :

- Bhartṛhari. *Vākyapadīya.* Translated by Raghavan Pillai, Motilal Banarsidass, 1971.
- Dasgupta, Surendranath. *Mahabhasya of Patanjali*. ICPR, New Delhi, 1991.

  chrome-
- extension://efaidnbmnnnibpcajpcglclefindmkaj/https://ia903107.us. archive.org/26/items/mahabhasya_of_patanjali_surendranath_dasgupta/The_Mahabhasya_of_Patanjali_Surendranath_ Dasgupta.pdf
- Dickinson, Emily. *The Complete Poems of Emily Dickinson.* Edited by Thomas H. Johnson, Back Bay Books, 1976.
- Freeman, Margaret H. "Emily Dickinson and the Vitality of Words: An Exercise in Philology". *Jinan Journal of Foreign Languages*, 2017.

chrome-

- extension://efaidnbmnnnibpcajpcglclefindmkaj/https://hcommons.org/deposits/objects/hc:10018/datastreams/CONTENT/content
- Paraba, Kasinath Panduga. *The Raghuvamsa of Kalidasa (3rd ed.)*. Nirnayasagar Press, Bombay.1886.

  https://ia800506.us.archive.org/9/items/Raghuvamsa of Kalidasa 1886/Raghuvamsa%20of%20Kalidasa%201886.pdf
- Thackery, Donald. *Emily Dickinson's Approach to Poetry.* University at Lincoln, November 1954.

  chrome-
- extension://efaidnbmnnnibpcajpcglclefindmkaj/https://core.ac.uk/download/pdf/294619317.pdf
- https://www.poetryfoundation.org/poems/56822/the-poets-light-but-lamps-930

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (100-107) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Devine Feminity in the Ṛgveda Exploration by Gouri Dharmapal

Mou Adhya[1]

Prof. Manudev Bandhu[2]

Abstract: The Ṛgveda, one of the oldest religious texts in the world, offers a rich tapestry of divine imagery, including a pantheon of female deities. This research paper delves into the portrayal of feminine divinity in the Ṛgveda, Exploring by Gouri Dharmapal with a focus on ten prominent goddesses: *Sarasvatī, Aditi, Rātri, Guṅgu, Sinibalī, Rākā, Indrāṇī, Varuṇānī,* and *Vāk.* Through a comprehensive examination of hymns, mythological narratives, and scholarly interpretations, this paper seeks to elucidate the multifaceted roles, attributes, and significance of these goddesses in Vedic culture and spirituality.

Keywords: Divinity, Power, Knowledge, Cosmic Creatrix, Cosmic Harmony, Divine Revelation.

Introduction: Ṛgvedic data is The post-Ṛgvedic period has the signature of a mature age in society and polity. At a time when the civilization of many countries navigated the early stages of societal maturation and cultural evolution, India was able to set the highest standard in its social system, action and philosophical thought. In the less than ten thousand years of *Ṛgveda*, the social system and social customs of the ancient Āryans, religious beliefs and religious ceremonies, political and philosophical thoughts, constant struggle with non-Āryans can be found. Although it was a male dominated society, the place of women in the *Ṛgveda* era was quite advanced and dignified. The fetters of restriction which in mediaeval society largely curtailed the natural freedom of women were absent in the Vedic period. At that time women like men received proper education and there seems to have been no

* Research Scholar, Veda Department, Gurukul Kangri Deemed to be University, Haridwar, Uttarakhand.

** Former Professor,Veda Department, Gurukul Kangri Deemed to be University, Haridwar, Uttarakhand

hindrance in this regard. Among the seer sages of the *Ṛgveda,* there were some *Brahmavidūṣī* women like *Viśvabārā, Lopāmudra, Ghoṣā, Apālā, Vāk* etc.. Their *maṇtras* are also included in the *Ṛgveda*[3] . Vedic *mantras* do not find any prohibition in the *Ṛgveda* regarding women. Many Vedic *maṇtras* had to be chanted by the bride at the wedding ceremony and by the wife at the Yajña ceremony. One of the *maṇtras* of the *KUṣandika* ceremony at the wedding is - *"Dhruvaü dyūḥ dhruvā pṛthivī dhruveyaṃ dhruvahaṃ patikule bhūyāṣaṃ"*[4] That means , the sky is fixed, the earth is fixed, these stars (*dhruvat*ārā) are fixed, so I will be fixed in my husband's house. This *maṇtras* must be recited by the bridegroom. After the completion of education, women were married as adults. Although the *Ṛgveda* does not explicitly mention the marriageable age of women, the *Yajurveda* or the *Atharvaveda* state that women were married after observing celibacy properly. On the other hand, there is no mention of child marriage in the Rigveda. Women seem to have had freedom in choosing their husbands- *"svayaṃ sā mitraṃ vṛṇute Jane cit."*[5] Main scope in this research paper is to define Vedic female deities in 32 *maṇtras* on the view of Gouri Dharmapal in her interpretation. Describing *Sarasvatī* who is goddess of knowledge, speech and art with Vedic *maṇtra.* Describing *vāk,* goddess of speech, Describing *indrāṇī* and *varuṇānī* whose divine consort of strength for their respective husband, Describing *Aditi*, mother of *ādityas* and protector of all beings, Describing *rātri* goddess of night, whose role is maintaining balance and order in universe, Describing *guṅgū, sinīvālī, rākā* lesser known goddess in *Ṛgveda*, discuss their attributes, roles and significance in ancient society.

Sarasvatī : Goddess *Sarasvatī* is eulogized by sage *Gṛtsamad Bhārgava Śaunaka* in the 41st hymn of the second *manḍala* of the *Ṛgveda.* Gouri explains only three *mantras.* In 16th *maṇtras* of this hymn she called *Sarasvati* as 'Eternal *Mahādevi'*[6]. *'Amvitame'* Meant it, mother. She explained this word with the help of a quote from Sri Aurobindo- "Those who will beg for food from Anvitma Maa. By their semen the human hunger was eaten by the slaves. Can't take it away anymore. When will the human-culture, the one-nested world, cross the threshold

3. RV. 1।179, 5।28, 10।125
4. OVLS. P. 152-156
5. RV. 10।27।12
6. PVD. P. 7-34

of sorrow, when the non-humans will become human, become Arya, and will make the mother earth golden-flowered-scented-full of flowers? Mridanga bowls are playing all around...can't you hear it?"[7] She called all rivers as mothers. According to her, all the great cultures of the world have developed along the river, So who did sage Śaunaka consider to be the best among the flowing rivers of that time? She is talking about the mother river *Sarasvatī* / '*saras-vatī*' here. Hence Gouri said, "in every *Trivenīsamgam,* in every Prayag, there is hidden as the third line, secret and lost is our *Manojyoti Vijñānjyoti Ananḍamoyī Hlādmoyī Surdhvani Sarasvati.* Somehow she lost her way, I found her in me again and again." In the 17th *maṇtras* Gouri explains, *Haimavatī* stream coming from ManSarovar, all our life rests in you, Saying that I build my body with whatever you mix in my substance. In 18th *maṇtras* Gouri said, the *Sarasvati* that flows from the Himalayas to Kanyakumari, It is understood in the joy of sage *Gritasamada, Sarasvatī* has given the radiant speech to the sage. *Rigveda* first *manḍala* 's third hymn is also praised to *Sarasvatī* by sage *vaiśvāmitra.* Gouri does interpret only three (10-12) *mantras. 'Pāvakāh nah*' means she did colour like fire. That is, the colour of *Sarasvatī* is fiery. And she is 'fire herself', sages are praying to her, please Purify us like fire in the radiance of your fire, Enlighten our intellect with light. *'Codoyitri sunrtānām'* Gouri says in this *maṇtra*, *Sarasvatī* is the rhythmic new language in our hearts, Which is the wonderful sound created from the musical instruments of the universe, the words that run around our minds can easily settle in our hearts, She is this *Sarasvatī.* Gouri has revealed such *Sarasvatī* . She called *Sarasvatī* a honey bee. The sages are calling this *Sarasvatī* like a bee to come quickly as you are. There is honey in our souls. Will you sit in our hearts to eat honey? "The hovering bee *Sarasvatī* has come and held our *Yajña*-A New Language."[8] *'maho arṇah'* Gouri explains this *mantra*, "A lightning wave. Vast vaster and still vaster... and all is flooded.

Forward she moves lightening all around afar. lightening the innermost depths of in-tuition- Majestic Magnificent Resplendent Brilliant Sarasvati (speech)." *Ṛgveda* first *manḍala* 164th no. of hymn's 49th no. of verse is about *Sarasvatī* . Gouri explains, *Sarasvatī* that you are lying in the depths of this sound universe, Your milky nectarine urn from which overflows the riches of melody. *Ṛgveda* second *manḍala* 30th no. of

7. IHU.
8. PVD. P. 35-49

hymn is also about *Sarasvatī*, which is explained by Gouri Dharmapal. She calls *Sarasvatī* an adventurer because she flows like a stormy river. Sages pray *Sarasvatī*, stay within us and protect us, Gouri says that Goddess *Sarasvatī* is deity in Vedas, also she is the speech of sages, and Goddess Durga in Puranas.

Vāk : Now she described *Ṛṣikā Vāk* in the *Vāk* hymn. Goddess of Speech and Divine Revelation. *Vāk* as a personification of speech and the creative power of the divine word. *Vāk's* association with poetic inspiration, wisdom, and spiritual illumination.[9] Gouri first established the genealogy and timing of *vāk*. Gouri explores her genealogy, that *vāk* is from *Ādityavaṃśī Suryavaṃśī. Bṛhadāraṇyaka* is the daughter of Ambhṛṇī. Ambhṛṇī got the *Vedas* from *Āditya* himself As mentioned by Gouri, in her book 'puronotun veder devira'. *Vāk* is praising herself, *"aham rudrebhirvasubhiscarāmyahamāditaiuta visvadevaih"* Gouri says in this verse explanation, The *vāk* herself is saying that I am going to be *Rudra's wife rudrāṇi* to break everything, to build it again, to give healing medicine. I am going to be the brightest with *vasu*. I am going with the *Āditya*'s to see the changes of the sun in twelve months, to circumambulate the sun. Gouri explains that the *vāk* itself is saying that everything is deity, everything is light, deity is everywhere inside and outside. *'ahaṃ somaṃ'* in this *maṇtras vāk* praises herself that the *soma* which has to be extracted by hitting, she nourishes him, she declares herself as a world artist, she considers herself author of this world, vāk declared herself as deity *Surya* and deity *Uṣā*, this is Gouri explained in her exploration. When the host invokes the deity through sacrifices, then *vāk* herself is caught up to the host, *vāk* fulfils all the needs of that host. She interprets a passage from the *Chāndogya Upanisada* about Yajña, Man is *Yajña, Yajñabhūmi, Yajmāna*. The earth is her sacrificial altar, being a householder and wife, she boils the rice of her labour in the fire of domesticity, and bakes the grain and bread. Invoking the fire gives as much wealth as it deserves, to return brighter. And whatever he eats, drinks, enjoys, is to get closer to his god. *Som Yajña* is happening like this. Gouri says, He who knows all this, understands the meaning, he does not need to perform Yajña anymore. She explored Rabindranath's song as his Yajña Katha. *'aham rāstrī samgamanī'* in this *mantra,* Gouri explains first word *'aham'* in this way, 'Joining the first letter of the

9. PVD. P. 57-90

alphabet 'A' and the last letter 'H' and ending with 'M', the fifth nasal of the class and the last touch letter 'M'. Linguistic Sound Touching Vast Vast Moving World (habit. *√Gam Kvip, Jam Gam Jangam Jagat*) Resonating into microscopic grandeur *'A-diti' Ākātā, A-kātya (√'do' Kātā)* Indivisible *Akhanḍa Abandhan* Abroad Immense 'I.' '*māyā* so *annamatti'* she explains, 'Salt-spices-boiling-sauce-chutney are all part of the body, part of the mind, part of the soul in my cooking and provide nutrition, health and emotions. If the inanimate body was not the body-soul-speech, then why eat? Do not study *veda*, do not meditate. Why lean towards the kitchen-dining room? So I (vāk) am the soup. I (vāk) am a cook. Everyone is rotting. Some rot, some ripen, mature.' *'ahameva svayamidam vadāmi'* Gouri says in explanation of this *mantra,* 'In the historical-geographical view of the sage, the *Jatajāl* of *Maha-Deva* started from *Devprayag* in the Himalayas to the Kailash Akhara by the people of *Devaloka.* In the sage's spiritual physical view, this brain is the refuge of Shiva's sound. The microscopic sound of the *Iḍā-Pingalā-Sushumṇā* pulses in her skull is the resonance of *Sarasvatī's vīṇa*. This body is luminous; his joy is the seven-foot flute of his seven-foot flute. Its resonance is ringing and spreading far and near.'

Aditi : Mother of the Gods and Cosmic Creatrix. Role of *Aditi* as the mother of the *Āditya* s and protector of all beings. *Aditi's* association with infinity, boundlessness, and cosmic order. [10]Gouri explores her in three *maṇtras* from *Ṛgveda.* First is from *Ṛgveda's* first *manḍala* 89th no. of hymn, here she says, *Aditi* is mother, father and also she is the child of them, every god is *Aditi. 'Aditi* grows the seed in Eve mother, the flower becomes the seed in the mother. Bury all.' In *Ṛgveda* 10th *manḍala* 66th no. of maṇtras where Aditi is explored by Gouri as infinite space. *Nikhila* 'Black whole hole', Time, the midwife of the universe. In Ṛgveda 10th *manḍala* 1st hymn *Aditi* called as *Agni,* light. Sage *Gṛtsamad* has said, From *Aditi* to *Sarasvatī Agni* is the light of my life, the god of life.

Rātrī : Goddess of Night and cosmic harmony. It has been placed in *Ṛgveda* 10th *manḍala* 127th no. of hymn. Praises in total of eight *maṇtras.* Gouri means the word *rātrī* as *dātrī*, that's donating. Gouri says *rātrī* In the 6th *manḍala* sage Bhāradvāj's daughter. Gouri Analysing this Devine deity *rātrī, 'rātrī* is seeing a form of darkness. *rātrī* itself is

10. PVD. P. 110

coming to tell its form with the eyes of countless stars. Innumerable eyes are emerging in the vast infinity where you are looking. The tiny black girl is coming wearing a star-glittering dress. High and low, in the village, in the house, in the forest, in the desert, wherever you look, the beauty of the Lord is emerging and settling down. The light coming from the source of darkness is gradually coming to the darkness with Her black light. The village is sleeping in her like the wings of the mother-in-law; Awake only the chill diamond rhythm of golden wings. Only speech is awake. Poems of the Vedas. The golden bat is swinging. *Rātrī* saw Garuda's parents with huge wings coming to play and play.'

Guṅgu, sinīvālī, rākā, indrāṇī, varuṇānī: *Ṛgveda's* second *manḍala* 32 no. of hymn it says, she who is *Guṅgu*, she is *Sinīvālī*, she is *Rākā*, she is *Sarasvatī* , he is *Indrānī*, he is Varuṇānī. Call her for relief. Gouri cited from Srimat Anirvan's vedamimamsa's second part page no. 302-303, 'Rākā' Uttara full moon. Giving √Ra, the fullness of riches in Him; So Lakshmi Purnima at the end of Devi Paksha. 'Kuhu' Uttara Amavasya. 'Kuhar' is starlight; Jh. In his place is Guṅgu, meaning 'silent'. Tu. Hindi gunga boba < Persian 'gung'. R. Also see 'Guṅgu-Sinibalī' on the new moon, and 'Rākā-Saraswati' on the full moon: Tu. At the beginning of Saptashati it is night (black) and at the end it is night (light). R. Te 'Guṅgu' is also the name of a township (10. 48. 8).' [11] Gouri explain in *'Ṛgveda's* this *maṇtra* (2।32।8) that Guṅgu is the new moon, deity of *kṛṣṇa caturdasī. Caturdaśī* night is deep darkness. Then the *amavasya's* deity is sinīvālī, it means *mahākālī. Varuna* is the god of night. Indra is *Mitra* or sun or day god. Their energies are being invoked in this mantra. That is, *Indrāṇī* and *Varunānī* are the *Uṣāsā-Naktā*. That is, in the same mantra, praying to all the *Shakti*-gods of day and night for relief and relief. Gouri explores this *Indrani Varuṇānī,* the lover of *Indra-Varuṇ,* is present in this age as Bhagwatī, Shārdā, Yogamāyā, Mridani, Avala, Kadambari, Mrinalini, Christine, Nivedita, Sudhan-shubala, Meerā, Basanti Devi, Emily, Durgama.

Across various mythologies and cultures, there are common themes and motifs woven into the stories of the diverse pantheon of goddesses. One prevalent theme is that of creation and fertility, where goddesses are often associated with the birth of life, the nurturing of crops, and the cycles of nature. Another recurring motif is that of power and sovereignty,

---

11. PVD. P. 133।45

with many goddesses embodying strength, wisdom, and leadership. Additionally, themes of love and beauty are commonly represented, as goddesses often serve as symbols of affection, desire, and aesthetic perfection. This feminine aspect is not only revered but also considered inseparable from the masculine principle, exemplifying the complementary nature of existence. Goddesses such as *Sarasvatī*, representing wisdom and knowledge within the Vedic worldview. Moreover, the notion of *Prakriti*, the primordial feminine energy that gives rise to the material universe, is intricately intertwined with Vedic philosophical concepts such as *Maya* (illusion) and *Karma* (action). Through these intersections, feminine divinity enriches and complements the broader Vedic cosmology and philosophy. Ancient Indian religious thought and practice provide profound insights into the complex role of gender within the society and spirituality of the time. While patriarchal structures were prevalent, there existed a multifaceted understanding of gender roles and expressions. Within Hinduism, for example, the concept of *Ardhanarishvara,* depicting the fusion of masculine and feminine energies within a single divine form, symbolizes the intrinsic balance and interdependence of genders. Additionally, the Vedic texts contain hymns dedicated to female deities, highlighting the recognition and reverence of feminine divine forces. However, societal norms often relegated women to subordinate roles, particularly in matters of ritual and leadership within religious institutions. Nevertheless, there were exceptions, with instances of women occupying significant religious and philosophical positions, such as the revered sage *Gargi* and philosopher *Maitreyi*. Thus, ancient Indian religious thought and practice offer a nuanced understanding of gender dynamics, reflecting both the constraints of patriarchal structures and the recognition of the divine feminine within the cosmic order.

Conclusion : The enduring significance of feminine divinity in the *Ṛgveda* resonates through its rich tapestry of hymns and rituals that honor various goddesses. Within the *Ṛgveda*, feminine deities such as *Uṣās,* the goddess of dawn, and Aditi, the mother of all gods, hold prominent positions, embodying essential aspects of creation, sustenance, and nourishment. These goddesses are revered for their power, wisdom, and nurturing qualities, symbolizing the cosmic forces that shape and sustain the universe. Furthermore, the *Ṛgveda* acknowledges the dynamic interplay between masculine and feminine energies, recognizing the complementary nature of both within the divine order. The presence of

feminine divinity in the *Ṛgveda* underscores the ancient Vedic understanding of gender as integral to the balance and harmony of existence, offering timeless wisdom that continues to inspire reverence and contemplation in contemporary spiritual discourse.

Reference:

1. Gouri Dharmapal, Puronotun Veder Debira,
2. Shanti Bandyopadhyay, outline of the Vedic literature and society, Sanskrit pustak bhandar, kolkata
3. Aurobindo, Ideal of human unity
4. Macdonell. A. A.- A History of Sanskrit Literature. Motilal Banarasidass, 1962.
5. Max Muller, F.-A History of Ancient Sanskrit Literature, Allahabad, 1926.
6. Weber. A.-The History of Indian Literature, (Eng. tr.), 2nd ed, 1882. Winternita, M.-A History of Indian Literature, Vol. I, Part I, (Eng. tr.) University of Calcutta, 1959
7. Gouri Dharmapal - Blossoms from the ever-green Veda
8. Maxmuller- Ṛigveda samhita sayanbhashya, 3rd edition, Varanasi, 1965
9. Baldev upadhyay -Vedabhashyabhumikasamgraha, Varanasi

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (108-117) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Cyber Mindfulness : A New Paradigm Through the Lens of Ancient Indian Knowledge

Priyanka Soni*
Arun Kumar**
Nikita Srivastava***
Rajat Singh****

Abstract

Technology has changed people's lifestyles and it has also drawn people's attention into the virtual world. People are becoming marionettes of the internet and technology in numerous facets of their lives, from social contact to professional work, playing games online to purchasing goods online, etc. People are starting to debilitate sight of the reality that technology is taking over their minds, rendering them incapable of making wise decisions. The control of the human mind is one of the finest ways to optimise production in the current environment of fast technological advancement. Cyber mindfulness plays a pivotal role in alleviating unhealthy practices, creating awareness, and making people conscious of their thoughts, actions, feelings and emotions in cyberspace. Cyber mindfulness could potentially be attained through resurrecting knowledge of yoga, meditation, and other practices used in ancient India. This article envisages the importance of cyber mindfulness in the era of technology and internet and comprises the knowledge of ancient practices in achieving cyber mindfulness. The article also entails the multitudinous benefits of cyber mindfulness in addition to the methods of enhancing cyber mindfulness.

Keywords: Mindfulness, Cyber mindfulness, Yoga, Meditation, Digital distraction, problematic digital media use.

---

* Ph.D. Research Scholar, Department of Psychology, Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar, Uttrakhand.
** Associate Professor, Department of Psychology, Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar, Uttrakhand.

Introduction

As technology continues to integrate deeply in the humdrum lives of people, it is not surprising that researchers globally are raising questions about the impact of technology on society. The digital ecosystem might be expanding with various benefits in tow, however, it is necessary to pay heed to the digital distraction potential that is rising by managing it judiciously (Gupte, 2020). Despite spending years with technology, numerous individuals continue to remain unaware of how it can be cautiously utilised. The present scenario is ridden with a culture of constant connection with digital devices and social media. The Argument that this form of union between people and their devices leads to wastage of time, attention and energy on information and interactions that can be labelled as unimportant has always been enduring; however, that it has become an essential part of lives, is non-negotiable. The cyber world is filled with grand chunks of information and this makes it hard for users to mitigate certain actions and activities. Cyber Mindfulness has been recognized as the modern way to alleviate unhealthy practices. As there continues to be an omnipresent existence of a digital world, there has been an increase in attempts to make people be mindful of their actions in cyberspace. Cyber mindfulness refers to the ability to be present in the moment and be aware of the thoughts, feelings and emotions experienced even in cyberspace (Santhosh & Thiyagu, 2021).

Mindfulness is a characteristic feature of consciousness that functions with the aim to direct individuals' attention to concentrate and focus in the present moment in a manner that is non-judgmental and with an attitude that is accepting. It has been regarded as a psychological trait that is possessed by most people, yet there continue to exist individual differences in people's capacity to be mindful (Li et al., 2022). When practising mindfulness, individuals pay close attention to each moment as it occurs. It entails taking time to be attentive to the thoughts and feelings and to become conscious of internal and external environmental triggers that lead to changes in feelings, behaviour and cognition (Hofmann, 2017).

Mindfulness has its roots in ancient Hindu traditions. Various ancient Hindu scriptures have stressed upon meditation, acceptance and silence, which is precisely what mindfulness entails (Saeed, 2022). Ancient Indian practices impart wisdom like none other to help attain mindfulness. One such internationally recognized Indian practice is

'Yoga,' which refers to an integrative physical and spiritual practice that is embedded in a rich culture system and can be clinically applied to bring out transformation in the human mind and body. The word 'yoga' means union and it emphasises the presence of an interconnection between the mind, body and the spirit. "Yoga is not an ancient myth buried in oblivion. It is the most valuable inheritance of the present. It is the essential need of today and the culture of tomorrow" (Satyananda, 1981). The practitioners of yoga teach a series of postures referred to as asanas with the aim to regulate breathing, increase focused attention and promote psychological well-being (Salmon et al., 2009). The integration of yoga and mindfulness can be witnessed in the existence of the Mindfulness based Stress Reduction Program (Kabat-Zinn, 1990).

Another ancient Indian technique that can help in attaining mindfulness is that of 'Meditation'. The practice of meditation as a therapeutic process has also been utilised in the health care setting with interventions based on meditation gaining popularity across the globe. More commonly, meditation based interventions are implemented complementary to the traditional/classic medical and psychological approaches (Moore & Malinowski, 2009). Mindfulness meditation requires the practitioner to sit quietly and observe their own experiences without modifications (Eberth & Sedlmeier, 2012).

The practices of ancient India led to the occurrence of a very different way in which individuals can view the self and the world. The way an individual develops a sense of identity, an awareness of the self and how he gains a notion about the world is an elaborative process that requires energy and attention of tremendous amounts (Olendzki, 2005).

Mindfulness has been talked about in various ancient Indian scriptures, particularly the techniques of yoga and meditation to attain mindfulness have been extensively explained and discussed. The four Vedas offer knowledge to those who wish to walk on the path towards spiritual revelation through the medium of yoga and meditation (Witzel, 2003). Vedas describe how yoga affects the overall persona and one who has knowledge of the vedas can reach the stage of Samadhi, which is the highest level of awareness (Srinivasan, 2015). The Yoga Upanishads which are dedicated solely to the art of yoga and how it can be beneficial for the health and wellbeing. It stresses upon the various postures, dhyana (meditation), pranayama (breathing exercises) in depth (Maknikar, 2021).

The roots of auspicious knowledge to live a healthy and prosperous life can be traced back to the vedic period. The knowledge of ancient Indian philosophers, scriptures, yoga etc all have positive attributes towards healthy lifestyle (Lowe, 2011; Jayswal, 2021). The modern society is witnessing drastic changes in the form of rapid advancement of technologies such as artificial intelligence, the disruption of daily lifestyle due to lockdown caused by Covid-19 etc. A balanced lifestyle in the modern era of digital devices and the internet is hard to achieve. The quest for peace and veracious knowledge, both spiritually and scientifically, had been the basic principles of ancient Indian civilization. The ancient Indian knowledge of vedas and yoga could provide a way ahead in achieving mindfulness solely dedicated to cyberspace, that is cyber mindfulness.

The Bhagavad Gita describes those who pursue the Yog state should live in seclusion, practise meditation regularly, have a regulated mind and body, and give up cravings and material goods for satisfaction (Mukundananda, n.d.).

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

yogī yuñjīta satatam ātmānaṃ rahasi sthitaḥ
ekākī yata-chittātmā nirāshīr aparigrahaḥ

Bhagavad-Gita, 6:10

Cyber Mindfulness: A New Outlook

The benefits of cyber mindfulness in the modern lifestyle are numerous. Cyber mindfulness could effectively be used to counter the modern lifestyle problems arising from the advancement of technology and the busy workstyle. Some of the keypoint areas where cyber mindfulness could be used are in dealing with

Dealing with Stress, Anxiety & Depression

Study conducted by Apaolaza et al., revealed that stress is found to be brought on by obsessive mobile and social media usage. On the other hand, mindfulness has a lowering influence on stress caused by excessive usage of mobile and social media (Apaolaza et al., 2019). Cyber mindfulness is a step ahead, it is concerned with the awareness of an individual regarding its surroundings while using the technology

associated with the internet such as mobile phone and social media. Cyber mindfulness could effectively be used to keep in check the negative effects of the internet such as stress and anxiety. The ancient Indian knowledge of yoga has been proved to be a vital practice to counter stress, depression and anxiety (Prashad, 2004; Li & Goldsmith, 2012; Naveen et al, 2013). Ancient India has deep roots of yoga practices which enhanced meditation, respiration and concentration. In addition, the study conducted by Gaiswinkler & Unterrainer has confirmed that yoga effectively enhances mindfulness among the people (Gaiswinkler & Unterrainer, 2016).

Pranayama for Mental Health

तस्मिन् सहित श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥

Tasmin Sati Svāsapraśvāsayorgativicchedaṃ Pranayamaḥ.

Pātanjal Yogadarśana 2.49

The association between the breath and the mind is strong because it follows from the breath's steadiness that the mind is stable. Through the practise of pranayama, breath control is possible (Joshi & Singh, 2023).

Minimising Problematic Digital Media Use

Problematic Digital media could be explained as the precarious use of digital media and may also include social media addiction, online gaming addiction, internet addiction, etc (Young & De Abreu, 2011). Addiction of digital media may result in detrimental effects on the mental health and well being of people and nevertheless may also result in distractions, insomnia, lack of appetite, etc. Digital media addiction also leads to dwindled social and communication skills (Parmar, 2018). Furthermore, feelings of isolation, overload of information, surcharge multitasking, and issues of inadequate attention have also been reported (Sweeney, 2019). These issues might be addressed by employing the intervention techniques of improving the knowledge of one's self and cyber mindfulness (Hofman & Gomez, 2017). Cyber Mindfulness aids people to surge their self awareness and envisages the mechanism to respond to the internal and external incites through their actions, emotions and thoughts which in turn could be achieved through meditation practices (Overby, 2018). Stabilised attention and strengthened self-

regulation facilitates mindful practices to ameliorate for the people (Zhu et al., 2017).

Countering Digital Distraction

The Internet has become a part of daily life. Many daily activities such as communication, education, banking, payments, entertainment, and navigation are highly dependent on digital devices and the internet. India holds second position in the world after China in terms of number of internet users (Petrosyan, 2023). In the previous five years, mobile data traffic in India increased by 3.2 times (The Economic Times, 2023). Proper utilisation of time in the hectic environment of modern life is highly essential for a well balanced lifestyle. Potent use of the internet without being distracted could be an effective way out possible through cyber mindfulness. Cyber Mindfulness could be increased with tranquillity and concentration (Chan et al., 2023). Additionally, the increase in cyber mindfulness reduces digital distractions.

Increasing Cyber Security & Cyber Awareness

Cybersecurity is the field relating to securing gadgets working with the internet. The profession is highly linked with the involvement of an individual with the usage of the internet. Mindfulness could be a great tool to reduce the risk of stress and burnout in cybersecurity professionals (Eskenzi, 2023). There are various professions evolving in the present time which are dependent on the internet or which require frequent use of the internet. Studies have found that phishing vulnerability can be significantly decreased by practising mindfulness (Weinstein, 2016; Wilder, 2019). This form of mindfulness falls under the ambience of cyber mindfulness. The ancient Indian practice of meditation is found to enhance mindfulness (Petrescu, 2021). These practices can effectively be used to inculcate the habit of cyber mindfulness to deal with the daily life routine which is surrounded by compulsive internet usage. Meditation positively impacts emotional intelligence (Charoensukmongkol, 2014). Emotional intelligence is found to positively affect mindfulness and mindfulness positively affects cyber security (Tolga et al., 2023).

Dhayna (Meditation)

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्॥

Tatra Pratyaikatānatā Dhyanam.

Pātanjal Yogadarśana PYS 3.2

The one thing that could eradicate major human problems and impediments is meditation. Concentration is possible during meditation. Meditation is the uninterrupted flow of awareness on the selected object of contemplation (Joshi & Singh, 2023).

Augmenting Cyber Mindfulness

In order to develop connection with the entirety, to let go of the ego, and to allow the mind to settle so that it can reflect the charmer and wholeness, the Upanishads place a strong emphasis on meditative practices (Saeed, 2022). The ancient Indian knowledge of meditation could be inscribed in the form of meditation apps to practise meditation regularly. In such a way meditative practices could be directed to attain a deeper level of cyber mindfulness. It could pave a way for enhancing mental health and wellbeing (Gal et al., 2021). One of the superlative methods to raise mindfulness is Yoga. Practising yoga can significantly improve the overall mindfulness (Shelov et al., 2009). The Yoga Upanishad discusses the methods for performing different yoga postures. Dhyana (concentration) and pranayama (breathing exercises) are some of them. Traditional techniques have yielded beneficial results in reducing emotional stress (Varvogli & Darviri, 2011; Shastri et al, 2017). Mindfulness intervention is also found to lower the levels of emotional weariness and to raise the levels of work satisfaction (Hülsheger et al., 2013). Two of the Mahapuranas' most notable entries, the Vishnu Purana and the Bhagavata Purana both hold recurring yoga exercises in high esteem (Maknikar, 2021). Mindfulness meditation could help in minimising the behavioural pattern of mind wandering (Bennike et al., 2017). Cyber Mindfulness could be enhanced through meditation practices, raising self consciousness and improving attention and awareness in cyberspace (Singh et al., 2023). The power of focus is directed by mindfulness. The ability to bring mindfulness to the deepest level of the mind is provided through concentration. Mindfulness & Concencentration work together to gain understanding and insight. Concentration and awareness are aided by meditation, and both of these factors support improved learning (Grewal, 2014). Concentration holds utmost importance while working on devices running on the internet. Cyber Mindfulness could play a role in the enhancement of concentration. The need to develop exclusive cyber mindfulness practices based on the knowledge of meditation and yoga is the need of the hour. The internet

penetration has increased in the past years and it will keep increasing with the upcoming years (Livemint, 2022). Better cyber mindfulness techniques are needed to counter the negative outcomes of the internet.

Conclusion

Technology has not only affected the lifestyles of the people but has also engrossed the minds of people into cyberspace. From social interaction to professional work, from shopping over the internet to playing games online, people are getting highly dependent on the internet and technology. People are becoming unaware of the fact that technology is gaining control over their minds and making it incapable of thinking and acting judiciously. One of the best means to maximise productivity in the present scenario of rapid evolution of technology is the supervision of the human mind (Gupte, 2020). Thus, there is a dreadful need to rejuvenate the power of one's mind and to become more mindful in cyberspace. Cyber mindfulness plays a critical role in ameliorating mental health issues like stress, anxiety, depression, fear of missing out, etc. Besides cyber mindfulness helps to bridle the problematic use of digital media and nonetheless it aids to overcome digital distractions in the world of technology and internet. Cyber mindfulness plays a pivotal role in ensuring the cybersecurity of the people in the era of cybercrimes and additionally ensures revamp of cyber awareness amongst different individuals. Thus, cyber mindfulness could be achieved by reinvigorating the knowledge of ancient India practices of yoga and meditation through the ancient scriptures like upanishads, puranas, viz. The rich and diverse ancient knowledge of India is of great help in not just achieving mindfulness but it could provide solutions to various day to day problems in the galloping world.

References

Apaolaza, V., Hartmann, P., D'Souza, C., & Gilsanz, A. (2019). Mindfulness, compulsive mobile social media use, and derived stress: The mediating roles of self-esteem and social anxiety. *Cyberpsychology, Behavior, and Social Networking, 22* (6), 388-396. https://doi.org/10.1089/cyber.2018.0681

Bennike, I. H., Wieghorst, A., & Kirk, U. (2017). Online-based mindfulness training reduces behavioral markers of mind

wandering. *Journal of Cognitive Enhancement, 1* (2), 172-181. https://doi:10.1007/S41465-017-0020-9

Chan, R. M., Mak, W. W., & Yu, B. C. (2023). Going beyond Mindfulness: How Concentration and Tranquility Commonly Co-Arising with Mindfulness Account for Mental Health. *International Journal of Environmental Research and Public Health, 20* (8), 5470. https://doi.org/10.3390/ijerph20085470

Charoensukmongkol, P. (2014). Benefits of mindfulness meditation on emotional intelligence, general self-efficacy, and perceived stress: Evidence from Thailand. *Journal of Spirituality in Mental Health, 16* (3), 171-192. https://doi.org/10.1080/19349637.2014.925364

Eberth, J., & Sedlmeier, P. (2012). The Effects of Mindfulness Meditation: A Meta-Analysis. *Mindfulness*, 3(3), 174-189. https://doi.org/10.1007/s12671-012-0101-x

Eskenzi, Y. (2023). Why Cyber Mindfulness is the Future of Cybersecurity. *Infosecurity Magazine.* https://www.infosecurity-magazine.com/opinions/cyber-mindfulness-future/

Gaiswinkler, L., & Unterrainer, H. F. (2016). The relationship between yoga involvement, mindfulness and psychological well-being. Complementary therapies in medicine, 26, 123-127. https://doi.org/10.1016/j.ctim.2016.03.011

Gal‚ÉE, ?tefan, S., & Cristea, I. A. (2021). The efficacy of mindfulness meditation apps in enhancing users' well-being and mental health related outcomes: a meta-analysis of randomized controlled trials. *Journal of Affective Disorders, 279,* 131-142. https://10.1016/j.jad.2020.09.134.

Grewal, D. S. (2014). Improving concentration and mindfulness in learning through meditation. *IOSR Journal of Humanities and Social Science, 19* (2), 33-9.

Gupte, V. (2020). *Mindfulness in the distracted digital world*. People Matters. https://www.peoplemattersglobal.com/article/life-at-work/minding-your-digital-mind-in-a-distracted-world-24361

Hofmann, S. G., & Gḍmez, A. F. (2017). Mindfulness-Based Interventions for Anxiety and Depression. *The Psychiatric clinics of North America, 40* (4), 739-749. https://doi.org/10.1016/j.psc.2017.08.008

Hulsheger, U. R., Alberts, H. J. E. M., Feinholdt, A., & Lang, J. W. B. (2013). Benefits of mindfulness at work: The role of mindfulness in emotion regulation, emotional exhaustion, and job satisfaction. *Journal of Applied Psychology, 98* (2), 310-325. https://doi.org/10.1037/a0031313

Jayswal, P. J. (2021, October 15). *Vedic knowledge compatible with modern science*. Times of India. https://timesofindia.indiatimes.com/readersblog/youth2020/vedic-knowledge-compatible-with-modern-science-38284/

Joshi, P., & Singh, O. P. (2023). Relevance of Yoga in overcoming the Grief and Loss due to Death : A Conceptual Study. *Vaidika Vāg Jyotih, 11* (20), 159-167.

Kabat-Zinn, J. (1990). *Full catastrophe living: Using the wisdom of your body and mind to face stress, pain, and illness.* New York: Delta.

Li, A. W., & Goldsmith, C. A. W. (2012). The effects of yoga on anxiety and stress. *Alternative Medicine Review, 17* (1). 21-35.

Li, X., Mu, W., Wang, Y., Xie, P., Zhang, Y., & Liu, T. (2022). Different Roles of Rumination and Mindfulness among Cyber-Ostracized Adolescents' Psychological Well-Being. *International Journal of Environmental Research and Public Health, 19* (3). https://doi.org/10.3390/ijerph19031222

Livemint. (2022). *India to have around 900 million internet users by 2025: Report.* Mint. https://www.livemint.com/news/india-to-have-around-900-million-internet-users-by-2025-report-11659063114684.html

Lowe, S. (2011). Transcendental Meditation, Vedic Science and Science. Nova Religio, 14(4), 54-76.

Maknikar, S. (2021). *Ancient Hindu Scriptures That Advocate The Importance of Yoga And Meditation.* Santosh Yoga Institute.

Mukundananda, S. (n.d.). BG 6.10: *Chapter 6, Verse 10 - Bhagavad Gita, The Song of God - Swami Mukundananda.* Bhagavad Gita. https://www.holy-bhagavad-gita.org/chapter/6/verse/10

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (118-125) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Effects of Yogāsanas in the treatment of cervical spondylosis

Samriti Nayak

Dr. B.M.N. Kumar

Prof. J.S Tripathi

Unhealthy life style includes wrong and improper eating habits, over or under intake of required calories, over sleeping, suboptimal body activities and more important abnormal body postures during driving, working on the computer and reading generate under pressure and stress injury to the spine and play an important role in producing disease like-cervical spondylosis Cervical spondylosis is one of the most common disorder of the cervical region, which is caused by degenerative changes in the vertebral and intervertebral discs. Cervical spine, leading to osteophyte formation and hypertrophy or adjacent facet joints .It is estimated that More or less, less than 25% people below 40 years of age are facing Cervical spondylosis. Yoga practices have been found to be better and effective alternative therapy in the cervical spondylosis. Specific Asanas, body postures, exercise, Yoga are highly beneficial. Yoga asanas are one of the few exercises like- *Bhujangāsana, Ardhamatsyendrāsana, Ustrāsana, Gomukhāsana, Matsyāsana, Makarāsana, Akarna Dhanurāsana along with the sookshma vyayam like skandha sanchālana Greevā sanchālana* etc. practiced successfully in daily routine.

Key word: Cervical spondylosis, Healthy life style, Asanas.

Introduction: Cervical spondylosis is originated by degenerated disc disease and oftenly causes intermittent neck pain in middle aged and elderly patients. It's a wear and tear procedure of cervical spine which

* Ph.D Scholar, Associate professor, Department of Rachana Sharir Faculty of Ayurveda, IMS, BHU, Varanasi.

** Professor, Department of Kayachikitsa Faculty of Ayurveda, IMS, BHU, Varanasi.

become a common problem in present time.[1] Psychological risk factors, such as long term stress, lack of social support, anxiety, and depression are also important roll playing for neck pain. In term of the biological risks, neck pain might occur as a consequences of certain disease like-neuromusculoskeletal disorders or autoimmune disease.[2]

Most people with degenerative changes of cervical spine remain asymptomatic are usually older than 30- 40 years of age and present with symptoms that are caused by the compression of neural structures. There are three main symptoms related to cervical spondylosis patients are usually beyond the fifth decade, and long tract sign are a hallmark. It is more common in men and in laborers. The symptoms include neck pain, sub-scapular pain, or shoulder pain shock like sensation in the limbs"[3,4] Due to cervical spondylosis, nerve root compression commonly occurs at the C5 to C6 levels, although higher levels can be also affected. Neurological features follow a segmental distribution in the upper limb, with sensory symptoms (shooting pains, numbness, hyperesthesia) being more common than weakness.[5] A healthy and Satwik life has been adored wish of people since age, but now a day due to fast advance technology epoch, desk bound lifestyle and lack of time, people cannot concentrate on their proper regimens and facing so many problems. One such a big problem is cervical spondylosis.[6] Occupational stress, curved and wrong sitting posture or, unnecessary sleeping, excessive travelling etc. lead to spondylitic changes in cervical spine region. Yoga relaxation technique has important role in the treatment of cervical spondylosis, that can be practices in spine or sitting posture for achieving the goal of positive health, improving will power, concentration and relieving pain and stiffness in neck. At the present time benefit of the physical exercise and the popularity of yoga have increased among the older peoples.

---

1. Shrivastav Ruchi, Prasad Rajendra, management of cervical spondylosis through exercise and asanas.
2. Elenberg MR, et.al, 1994.
3. DH Irvine& JB Foster.
4. Balyogi Ananda Bhavanani, yoga and cervical spondylosis; yogacharya.
5. Allan I Binder, British Medical Journal, 2007, Cervical Spondylosis and Neck Pain.
6. Allan Lisa A. Ferrara; The Biomechanics of Cervical Spondylosis; Hindawi publishing Corporation Advanced in Orthopedics; Vol. 2012.

Although yoga exercise has been shown to be effective for improper spine mineral density and decreasing inflammation risk. The Cervical spondylosis is a life style disease which is not restricted to any age group. No medical technique has permanent cure to disease. Yogasanas tend to be a stimulator of cervical muscles which automatically helps to use pain of cervical region as well as creates a distance form deleterious pain killers and are accessible flexible and less expensive technique with prolong benefit in cure of cervical spondylosis.

Pathophysiology :

The pathogenesis of cervical spondylosis entail a worsen situation that make biomechanical changes in cervical spine, the main pathophysiological process involved in the essential degenerative occurrence leading to cervical spondylosis. Manifesting as secondary compression of neural and vascular structures. It starts with the cervical disc desiccation an increase in the keratin -chondroitin ratio prompts changes to the proteoglycan matrix resulting in loss of water, protein and mucopysaccharides with age allow the nucleus pulpous to lose elasticity and to become smaller and more fibroses. The annulus fibroses then takes on more of responsibility for weight bearing and likely to bulge into the spinal canal as the inter space loses height. This loss of disc space height initially occurs ventrally and may lead to loss of cervical lordosis. More forces are then placed on the ventral aspect of the vertebral bodies leading to a kyphotic deformity.

Table 1

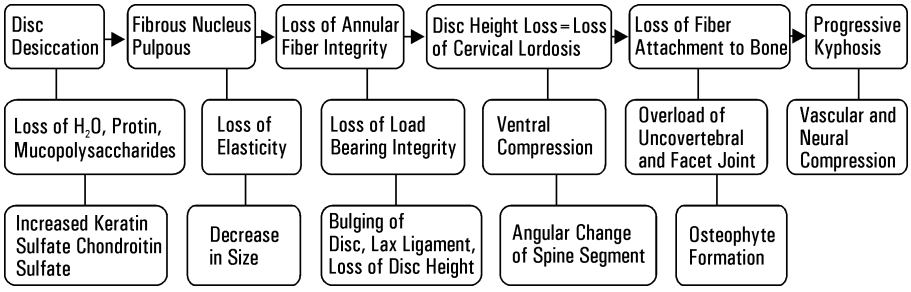

Stress in cervical spondylosis : Stress and cervical spondylosis have an invariable relationship with each other. Many studies have shown that stress is a widely spread problem in the current era. Due to the daily issues, peoples feel so much burden on their mental health. persons with stress and depression are likely to have improper posture, which may lead

to postural complications. Abnormal posturing may be a sign of certain injuries to spinal cord. Cervical spondylosis is at increased risk of stress. mental problems also cause physical problems. Stress is an outcome of modern lifestyle. It is produced out of dissatisfaction and abjection when there is negative interaction between the self-projection and the adverse internal as well as the external environmental conditions. At present, the human existence is challenged by the stress disorders such as psychosomatic disease, mural disease, cardio vascular disease.

Effective Asanas in the management of cervical spondylosis:

Although the action of almost all the cultural asanas is on the spinal column, this group of asanas work mainly on the joints, ligaments, muscles, and the associated nerves of the vertebral column. The system of Yoga is not developed for the purpose of treatment, It has been observed through the applied research that the regular practice of yoga not only control these disease but also promotes and maintain the health of body and mind and prevents the disease process.

When somebody practicing yogasana it is essential to acquire knowledge about sharīra *Rachanā*. yoga has also been found to be an effective tool in reducing the levels of pain and stress. *Yoga* is an adequate technique for playing important roles in the treatment of cervical spondylosis, they can be practiced in supine or sitting posture for achieving the goal of positive health, willpower, concentration, and relieving pain and stiffness of the neck. Tadasana, Ardhamatsyendraasan Bhujangasana, *Gomukhāsana, Dhanurāsana, Ushtrāsana, Matsyāsana, Naukana, Surya namaskār* and sookshma vyāyām like (Skandha sanchalana, Greeva sanchalana) are beneficial in cervical spondylosis for reducing pain and neck stiffness.

The physical benefits of yoga are myriad. Yoga asanas have a profound impact on the system of human being. the body become more flexible and more able to adjust to environmental changes after practicing asanas. Yoga keeps our body strong, as it involves all the muscles in our body to hold and balance yoga asanas. The various yoga postures strengthen our feet, hands, fingers, lower back and shoulders. The group of muscles affected by particular type of yogasanas can be tabulated as follow.

Bhujangāsana: Bhujanagāsana alleviates patients suffering from cervical spondylosis. It effectively stretches and strengthens the trapezius

muscle and deep cervical flexure. It Stretches shoulder and chest muscles and decreases stiffness of the shoulder and neck joint which Increases flexibility in upper back region. Bhujangasana effort to maintain the posture, the muscles are stretched against some resistance from the joints and the tendons. This increases te muscular tension.

Ardhamatsyendrāsana: it increases the elasticity of the spine, tones the spinal nerves and strengthens of **Levator scapulae, Sternocleidomastoid** and improve the functioning of spinal cord. it helps in cervical spondylosis and loss of appetite. *Ardha matsyendra* āsana is one o the most effective poses for isolating these hard-to access muscle. This asana work by safety stretching muscles and all other soft tissues and ligament which provides flexibility that also improves the core strength of people.

Makarāsana: in sanskrit word 'Makar' means Crocodile and Makarasana it is a effectively straighten of Erectors spinae .this yogic pose useful for people who are suffering from cervical spondylosis and neck stiffness.

Uṣtrāsana: In Sanskrit word Ushtra means Camel this asana first subjects were asked to sit on the floor with stretching his legs and keeping his spine erect, keeping palms on the ground side by the buttocks. Then bend the leg by the knees and sit on the heels placing the buttocks between the heels, knee on floor keeping the knees in line with the shoulders and sole of the feet facing the ceiling. Hands were kept on thighs, along with inhaling; arched the back and placed the palms on the heels of the feet, keeping the arms straight. The neck was kept in natural position without any strain. This yogic pose useful for people who are suffering from neck pain. it is a effectively straighten of Erectors spinae.

Discussion and Conclusion:

Yoga therapy is not a miracle therapy. It would be no exaggeration that is a one solution of all problems. It is not one pill for all ills. There should be no false claims or tall claims made in this field because yoga therapy is also a science. Cervical spondylosis is a common condition in which there is degeneration of the cervical spine, which can lead to symptoms such as neck pain and stiffness. Yogāsana, a form of yoga, has been shown to have potential benefits in managing cervical spondylosis. Practicing these Yogāsana can improve posture, which is important in the management of cervical spondylosis, as poor posture

can place additional stress on the cervical spine. Furthermore, certain Yogasana poses can target specific areas of the neck and upper back, providing a gentle and effective form of physical therapy for the cervical spine. These Yogāsana works on cervical spondylosis through several mechanisms. Firstly, it improves flexibility and range of motion in the neck and upper back through various stretching and strengthening exercises. This can help alleviate the pain and stiffness associated with cervical spondylosis by reducing the pressure on the spinal nerves and joints. Secondly, Yogāsana can improve blood flow to the cervical spine by increasing oxygen and nutrient delivery to the affected areas. This can help promote healing and reduce inflammation in the cervical spine, which can further reduce pain and improve function. Yogāsana can help reduce stress and anxiety, which can have a significant impact on cervical spondylosis symptoms. Stress can cause muscle tension and tighten the neck and upper back, exacerbating symptoms of cervical spondylosis. Yogasana, through its focus on breathing and relaxation, can help reduce stress levels, leading to a reduction in muscle tension and pain. Overall, Yogasana can help improve posture, which is important in the management of cervical spondylosis. Poor posture can place additional stress on the cervical spine and lead to further degeneration. By promoting proper alignment and strengthening the muscles that support the neck and upper back, Yogāsana can help reduce the stress on the cervical spine, leading to a reduction in pain and improved function.

The scientific importance of Yogāsana in the management of cervical spondylosis lies in its ability to improve flexibility, strength, blood flow, posture, and reduce pain and stiffness, making it a safe and effective complementary therapy. In conclusion, the study focuses that practicing these five specific Yogāsanas can be an effective method in managing cervical spondylosis. The review showed significant improvement in symptoms such as neck pain, headache, and physical function. These findings suggest that incorporating these Yogāsanas into a comprehensive management plan for cervical spondylosis can provide additional benefits for patients. However, further clinical research with long-term follow-up is necessary to fully understand the potential effects of these Yogāsanas in managing cervical spondylosis.

Refrences:

1. shrivastav Ruchi, Prasad Rajendra, management of cervical spondylosis through exercise and asanas.
2. elenberg MR, et.al, 1994.
3. DH Irvine & JB Foster.
4. Balyogi Ananda Bhavanani, yoga and cervical spondylosis; yogacharya.
5. Allan I Binder, British Medical Journal, 2007, Cervical Spondylosis and Neck Pain.
6. Lisa A. Ferrara; The Biomechanics of Cervical Spondylosis; Hindawi publishing Corporation Advanced in Orthopedics; Vol. 2012.
7. panchticta in cervical spondylosis, international journal of legal medicine vol 11(2):218-227.
8. Sawarkar Gaurav, supple yogeswari, prevention and management of osteoarthritis. Int. j. Res. Ayurveda pharm. 2013; 4(3); 454-458.
9. Effect of yogasana on cervical spondylosis international archives of integrated medicine vol.2, issue7, july 2015.
10. yoga spinal flexion positions and vertebral compression fracture in osteopenia or osteoporosis of spine: case series. Sinaki Mehrsheed.
11. Michaels RR, Huber MJ, et.al. (1976) & vempati RP, Telles S. (2002).
12. Chaurasias BD human Anatomy regional and applied 8th edition, vol I.
13. Shusruta samhita 15/41.
14. Gheranda Samhita, Swami Niranajana Nadna Saraswati, Yoga publication trust, munger, Bihar p no. (125).
15. S Nitin, R Priti, Role of ardha-matsyendrasana on diseases of annavaha srotas in perspective of sharir, International Ayurveda medical journal (2016); {cited 2016 july}.
16. Lisa A. Ferrara; The Biomechanics of Cervical Spondylosis; Hindawi publishing Corporation Advanced in Orthopedics; Vol. 2012.

17. Lisa A. Ferrara; The Biomechanics of Cervical Spondylosis; Hindawi publishing Corporation Advanced in Orthopedics; Vol. 2012.
18. Makarand Madhukar Gore; A-44 Naraina Inndustrial Area, Phase-1 New Delhi 110 028 (2008); Fourth revised and enlarged edition.
19. Makarand Madhukar Gore; A-44 Naraina Inndustrial Area, Phase-1 New Delhi 110 028 (2008); Fourth revised and enlarged edition.
20. Shrivastav Ruchi, Prasad Rajendra, management of cervical spondylosis through exercise and asanas.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (126-133) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Diverse Perspectives and Approaches in Shaping Indian Philosophical Traditions with Debate, Dialogue and Narratives

- Dr. Nikita Singh*

Abstract :

Indian philosophy and traditions have been played a significant and integral role in conceiving and shaping the thoughts, perspectives, understanding the nature of reality, self, consciousness and the universe etc. It has an extensive and diverse philosophical tradition dating back to the composition of the Upanishads and Veda in the later Vedic period. Indian philosophical traditions always emphasize on the importance and value of discussion and arguments as a means of inquiry and understanding which leads to the refinement of ideas over time. According to ***Radhakrishnan***, Indian philosophical ideas are the "the earliest philosophical compositions of the world".

Indian philosophical thought lays a deep reverence for diversity, in terms of Ontological conceptions, epistemological methodologies, the nature of the world (cosmology), ethics and logic in every philosophical school. It always leads to the philosophical discourse "***Śāstrārtha***", transmission of knowledge, exploration of perspective, dialectical reasoning and illustration of thoughts. It is always serving as vehicles for the exploration, articulation and transmission of philosophical insights etc.

This paperendeavours to provide a glimpse into the wide realm of Indian philosophical thought, highlighting its foundational and fundamental principles, key schools of thinkingthat relyupon dialogue, debate and narrative.

Key words : Indian philosophy, Ontology, Epistemology, Dialogue, Perspective.

Introduction :

Indian philosophical thoughts have been recognised for its richness, diversity and complexity. It has been shaped by extensive variety of perspectives resulting in a philosophical landscape that encompasses various schools of thoughts, each offering unique insights into the reality, existence, and the human condition. This paper explores the diverse perspectivesandapproaches of debates, dialogues and narratives that have contributed to the evolution of Indian philosophical thought, examining the key schools of philosophy, their fundamental tenets, and the interactions between themby delving into the historical, cultural and intellectual contexts in which these philosophies emerged and aim to provide a comprehensive understanding of the dynamic and multifaceted nature of Indian philosophical thought.

Additionally, this paper also attempts to bring out the salient features of methodology adopted in the Indian philosophical tradition. The ancient Indian philosophers did not blindly support any philosophical position without proper rational scrutiny. Thus, reason is treated by them as a most important input in the art of philosophizing to establish their standpoint as free from dogma and blind faith and to get into the deeper structures of philosophical reasoning. Dialogue, debate and argument have an inbuilt investigating mechanism which aims at eliciting rationally justifiable answers. Therefore, the art of investigation unearths various layers of knowledge. Its role is more positive and constructive, rather than negative and destructive. In this paper an attempt is made to show that the art of investigation is inbuilt in the Indian philosophical tradition.

An overview of Indian philosophical system :

The philosophical traditions in India represent the philosophy of life and spirit, when we talk about philosophy of life, diverse disciplines such as language, literature, history, philosophy and culture become part and parcel of it.

India's extensive intellectual past is enlivened with a long-standing tradition of philosophical inquiry that involves debate, discussion and narratives. A comprehensive exploration of India's philosophical history reveals that the quest for truth and comprehension is deeply ingrained in the intellectual traditions of various school of thought.

The art of philosophizing is one of the most important and

distinguishing features of any philosophical tradition.It is differing from one tradition to another and largely dependent on the metaphysical and epistemological presuppositions of a given tradition and always be under the method of investigation to remove the inquisitiveness. It is successfully employed in the ***Upnisads*** and also in the major systems of Indian philosophy which have been categorised into the heterodox (***nastik***) and the orthodox (***astika***). The development of the Indian philosophical tradition is largely attributed to the commentarial tradition practiced by the various system builders. It starts with the exposition of the position of an opponent or the system to be criticised (***pūrvapakṣa***), the criticism levelled against the system (***khaṇḍana***), and the thesis arrived at (***siddhānta***). This is considered as a healthy practice. One has to understand the philosophical position of one's opponent thoroughly before criticizing it. Theory building in philosophy is different from that of science. If theories in science are built with the aid of the experimental method, theories in philosophy are built with the aid of reason and experience. What is experienced is more authentic than that is arrived at by mere reason and experimentation. But the fact remains that what is experienced by an individual remains as a private experience and it would not be possible for others to share it. This remains as a chief obstacle for establishing truths in philosophy. Such an obstacle cannot deter philosophers from constructing theories on the basis of experience.

Exposition of dialogue, debate and narrative in Indian philosophy in a scriptural foundation :

The Vedas, which are the main source of the orthodox Indian philosophical systems are called ***Sruti***, which means æwhat is heard'. The Vedic wisdom was orally transmitted to the eligible by the great seers and sages. The process of transmission is not one-sided. The receiver often poses questions whenever and wherever he/she is not convinced by any standpoint. "The Vedas may be full of hymns and religious invocations, but they also tell stories, speculate about the world and - true to the argumentative propensity already in view - ask difficult questions" (Sen 2005, p. XI). Some of the questions raised in the Vedas are: Who created the world? Did it emerge spontaneously? Did God know what really happened? One may come across questions of different types. There are questions which are simple as well as complicated and are asked to seek clarifications. Reflection of highest kind is expected

in answering them. The dialogues and the arguments of philosophers cannot bypass the method of investigation through the art of questioning, for they intend to establish what appeals to rationality. Irrespective of their allegiance or non-allegiance to the authority of the Veda, the Indian philosophical systems posed the following questions: What is man's life? What is its meaning and purpose? How is man to plan his life so that he can attain his ideal? If life is part of reality, who is he to know this reality? The questions may be both philosophical and religious. The purpose of this questioning is to get philosophical insights into the fundamental issues concerning human life. The philosophers of India are of the opinion that philosophy is nothing but philosophy of life. As a matter of fact, the Upanishads, which belong to the **Jñāna-kāṇḍa** of the Vedas, are written in dialogical form.

In the ancient Vedic tradition, the roots of Indian philosophical debate found deep into the sacred lands of Vedic times. From the foundational texts of the Vedas to the structured arguments of Nyaya and Mimamsa, the argumentative tradition has been a melting pot in which ideas have been refined, debated, and developed. The discussions often transcend intellectual wrangling and move towards dialogic debates that emphasize mutual respect for differing viewpoints and the pursuit of a common truth.

Debate or ***"vāda", "tarka"*** stands as a foundational pillar and played a crucial role in the edifice of Indian philosophical traditions. Intellectual luminaries engage in spirited dialogues to explore, question, and refine their understanding of intricate philosophical concepts. It is comparable to the teachings found in the Upanishads and Buddhism, and it embodies the art of conversation as a means of comprehending the complexities of life. These conversations which are based on information extracted from ancient manuscripts and introspective reflections, result in a deeper understanding of the central questions of existence. These debates unfolded in public arenas, resonating and intriguing. Leveraging the data enshrined in the scriptures as his anchor, Shankara eloquently championed the Advaita Vedanta philosophy- a doctrine underscoring the non-dual nature of reality. It serves as a means of intellectual engagement, critical examination, and the pursuit of truth.

Early debates can be traced back to the Upanishads, where dialogues between teachers and students were used to explore philosophical questions.Both Brahmanical (Hindu) and Buddhist

traditions developed sophisticated systems of debate. For instance, the Nyaya school of Hindu philosophy and Buddhist logicians like **Dignāga** and **Dharmakīrti** focused extensively on logic and debate.

The Nyaya school, with its foundational text, the ***Nyaya Sutras***, formalized the rules of logic and debate. This school emphasized the importance of structured argumentation and reasoning.For Nyaya philosophers, debate was essential for distinguishing valid knowledge (Pramana) from fallacious reasoning (Hetvābhāsa). Jain philosophers used debate to illustrate their principles of relativity and multiplicity of viewpoints. Debates highlighted the limitations of absolutist positions and underscored the Jain emphasis on tolerance and understanding diverse perspectives.

Debate in Indian philosophical traditions serve as a foundational method for intellectual inquiry, fostering critical thinking, rigorous analysis, and the pursuit of truth. It has shaped the development of various schools of thought and continues to play a vital role in both historical and contemporary contexts.

Dialogue is a tradition that serves as stepping stone between various philosophies, such as Advaita and Dvaita, Buddhism and Hinduism, or Jainism, and Sikhism, with the aim of sharing knowledge and creating ambiance for mutual understanding. This can be achieved only through dialogue. The act of dialogue is not solely a means of intellectual curiosity, but also enables moral and social harmony. The discussion and exchange of ideas that involves the expression of respect, empathy, and tolerance not only enhance philosophical teachings but also lay down ethical principles for a society that is highly pluralistic. It holds a central and multifaceted role in Indian philosophical traditions. Its importance is evident across various schools of thought and periods, contributing significantly to the development, dissemination, and refinement of philosophical ideas.

Dialogue in Indian philosophical traditions serve as a vital tool for teaching, debating, and developing philosophical ideas. It fosters critical thinking, allows for the synthesis of diverse perspectives, and helps in the practical application of philosophical insights. The emphasis on dialogue reflects a broader cultural appreciation for discussion and debate as a means to attain wisdom and truth.

A philosophical dialogue is a form of discourse in which people engage in a conversation to explore and discuss complex philosophical ideas and concepts. This format allows for the exchange of different perspectives and arguments, often involving Socratic questioning, in order to deepen understanding and seek truth. Philosophical dialogues can take various forms, such as written texts, oral discussions, or modern adaptations in different media. They are often used to explore ethical, metaphysical, epistemological, and other philosophical inquiries.In contemporary times, dialogue remains a significant method in Indian philosophy, particularly in interfaith and interdisciplinary contexts. Philosophers are engaged in dialogues to address modern ethical issues, cultural integration, and scientific advancement.

Through the telling of captivating narratives, mythology and philosophy have interwoven themselves throughout history, with their relationship spanning both epics and Purana to the ancient epic books. The ***Mahābhārata***, is not an entirely epic war story; but rather a series of dialogues between Krishna and Arjuna that deal with themes of duty, justness, and the nature of self. The ***Rāmāyana*** is another epic based on stories about the practice of dharma and moral decisions.Narratives are fundamental to human communication and culture, serving to entertain, inform, persuade and connect people.

In Indian philosophical traditions, narrative is important and has many different applications. In contrast to the abstract reasoning and methodical argumentation of Western philosophical traditions, Indian philosophy typically uses narrative forms like myths, stories, dialogues, and epic narratives to express deep philosophical ideas. Narrative is an essential and dynamic component of Indian philosophical traditions. It serves not only as a vehicle for transmitting philosophical ideas but also as a means of engaging the audience, contextualizing teachings, and exploring complex concepts through accessible and relatable forms. Through narratives, Indian philosophy achieves a unique blend of intellectual rigor and cultural richness, making it both profound and approachable.

Furthermore, this examination exceeds the limits of intellectual discourse and embraces a newfound ability to change through philosophical analysis. Historical and contemporary interreligious dialogue exemplifies the inclusiveness inherent in India's philosophical tradition.

Conclusion :

The art of investigation is not new to the Indian philosophical system or tradition. The philosophers, mainly the sages and the seers encouraged it from its simplest to its complicated form. This is very well exhibited in the Upaniṣads, Gītā and in the Nyāya. Dialogues, Debates and Arguments consist of queries of various types. A dispassionate and open approach is needed to answer philosophical questions.

In contemporary India, triad of narratives, dialogues and debates remain profoundly pertinent. This persists as an indispensable facet of the democratic process; wherein divergent perspectives are examined with the intent of fashioning enlightened decisions. Ethical decision-making continues to resonate in both personal and professional spheres, as individuals endeavour to harmonize tradition with the exigencies of the modern era.

The timeless wisdom embedded in Indian philosophy underscores the intrinsic interplay between information, discourse, and choices. These facets are not isolated but are inextricably interwoven components of the human odyssey, offering guidance in the quest for knowledge, the dialogue that enriches understanding, and the ethical decisions that shape the trajectory of one's life. In the grand panorama of Indian philosophy, information, discourse, and choices persist as the threads that intricately weave the fabric of human insight, ethical conduct, and spiritual evolution, serving as an eternal compass for those in pursuit of enlightenment in an ever-evolving world.

Overall, the diversity within Indian philosophy fosters an ongoing dialogue that spans millennia, reflecting a continuous exploration of fundamental questions through debate, dialogue, and narrative frameworks.

Indian philosophy, with its rich tapestry of narratives, dialogues, and debates, offers a unique and enduring contribution to global philosophical thought. Its diverse schools of thought and their interactions reflect a deep commitment to understanding the nature of reality, the self, and the ethical dimensions of human life. By examining the interplay of these elements, we gain insight into the profound and multifaceted nature of Indian philosophical traditions.

The philosophical landscape in India is characterized by rigorous debates, arguments and critical examination. These debates, narratives

and dialogues are not only highlighting the diversity of thoughts but also the depth of analysis that define Indian philosophy. The interplay between different schools has led to a rich intellectual tradition that continues to influence contemporary philosophical discourse.

Reference :

1. Radhakrishnan, S., 1953, The Principal Upanishads. George Allen & Unwin, London. pp. 12-21
2. Raju, P. T., 1985, The Structural Depths of Indian Philosophy. South Asian Publishers, New Delhi. pg. 129
3. Sen, Amartya, 2005, The Argumentative Indian: Writings on Indian Culture, History and Identity. Penguin Books, London. pg. 11
4. Bṛihadaraṇyaka Upanishad.
5. Chandogya Upanishad

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (134-146) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Mantras : Ancient Vedic Keys to Modern Wellness

-Dr. Deeja C. Radhakrishnan*
-Dr. Mahesh Kumar Harit**
-Dr. Vinay Pawar***

Abstract

This article explores the profound significance of *Vedic mantras* as a versatile treasure of wisdom. *Mantras*, carefully composed syllables and words, hold the power to connect practitioners with universal energies. When recited with concentration and precision, they bring about spiritual and cosmic transformations. The study delves into the relevance of mantras from various Vedic texts, including Ayurveda and the epics like *Rāmayana* and *Mahābhārata. Mantras* play a vital role in various aspects of life, from pregnancy and childbirth to medical treatments and environmental well-being. They act as a life-saving measure, aid quality improvement, invoke planetary favor, and contribute to mental calm, concentration, and protection. Scientific research corroborates the efficacy of *mantras* in these diverse applications. This ancient practice continues to hold immense value in enhancing physical and mental well-being, improving the environment, and addressing various health concerns, demonstrating its enduring importance in the modern world.

Key words : D*aivavyapāshraya, mantra, Om* chanting, memory, attention, anxiety, *Āditya Hṛdayam*.

---

* Asscociate Professor, J. S Ayurveda Mahavidyalaya, Nadiad.
** Dean & Professor, D.Y.Patil Deemed to be University School Of Ayurveda, Nerul, Navi Mumbai.
*** Associate Professor, D. Y. Patil deemed to be University School of Ayurveda, Nerul, Navi Mumbai.

Introduction

The *Vedas*, those ancient reservoirs of profound wisdom, unlock a treasury of knowledge that has endured the test of time. Within this sacred body of wisdom, *Vedic mantras* stand as a collection of syllables and words carefully crafted to invoke a powerful connection between the practitioner and the universal energies that surround it. When these *mantras* are intoned with unwavering concentration and precision in pronunciation, they blend transformations on both a spiritual and cosmic scale.

Each *mantra* is meticulously composed in a specific meter and pronounced in a particular way, ensuring their effectiveness. *Mantras* serve as keys, unlocking doors to various dimensions of existence. Through the recitation of specific *mantras* or listening to the chants, one can enhance their intellectual pursuits, fortify their inner strength, alleviate the burdens of stress, and embark on a journey towards heightened states of consciousness.

Āyurveda, "the science of life", the *upaveda* of *Atharva Veda*, have accorded special reverence to the preservation of well-being for the healthy and the healing of the ailing. In this endeavor, *Ayurveda* incorporates æthe art of *mantra*' as an integral component of *Daivavyapāshrayachikitsā* (a modality of treatment based on past deeds and pleasing of god).

Materials and methods

So this study is conducted to analyse the relevance of *mantras* from different perspectives in the *Samhitās* like *Charaka Samhitā, Sushruta Samhitā, Astānga Hridaya, Astānga Sangraha* and *Kashyapa Samhitā* which are the followers of *Vedas*, also here the effort has been taken to find out the instances of *mantras* from the epics like *Rāmāyana* and *Mahābhārata* where effects of mantrasare narrated. Study also made an effort to find out the research on those areas.

Result

Acharya Charaka elaborates on "*Thrividhachikitsā*," consisting of three treatment approaches, with *Daivavyapāshraya* taking the lead[1]. In the realm of *Āyurveda*, "*daiva*" denotes the unobservable, that which lies beyond the realm of ordinary perception. *Daivavyapāshrayachikitsā* encompasses diverse practices such as *mantra* chanting and wearing of

gems, many of these being more closely associated with religious rituals than therapeutic interventions.

Definition of *mantra* suggests a safeguard achieved through repetitive utterance[2]. Consequently, each *mantra* adheres to specific patterns of enunciation or chanting. When recited aloud or listened, these *mantras* generate vibrations that can influence both physical well-being and mental state. *Āyurvedic* classics also delve into manifold aspects of *mantra chikitsā*. Throughout ancient epics, instances abound where *mantra* produced positive outcomes in specific conditions. Importantly, this isn't merely a subjective assertion but a subject of scientific investigation, corroborated by experimental evidence.

Mantra as an aid towards quality improvement

"*Garbhasamskāra*" is a time-tested practice for nurturing a baby in the womb, gaining increasing popularity in modern times. The term "*samskara*" inherently implies the refinement or alteration of qualities[3]. In this context, specific *samskaras* are recommended during conception[4] and at the time of birth[5], meticulously guided by Vedic instructions. *Mantra* chanting plays an integral role in these *samskaras*.

The references to the "*Putreṣti Yajña*" can be traced in both classical *Ayurvedic* texts[6] and epic literature[7]. This ritual is intended for couples aspiring to have a healthy child.

Researchers have employed the same approach in studying plant growth, providing evidence that *mantras* have a beneficial impact on plant development[8]. This suggests that the sonic vibrations of *mantras* may exert a profound influence on the offspring.

Mantra as a Life saving measure and emergency care

In *Rigveda*, the *Maha Mrityunjaya* mantra is expounded, revered as the "*mokṣamantra*," conferring longevity and immortality (*Ṛgveda* 7.59.12)[9], it is recounted in the *Skanda Purāṇa* while explain the story of sage *Mārkandeya*[10].

When detailing the treatment for snakebites inflicted by venomous snakes, the *Samhitās* make use of the life-saving potential of *mantras*, prioritizing this approach as the foremost among 24 *upākramas* (treatment modalities). It recommends applying a tourniquet at the site of the bite in the presence of a "*mantrakovida*," a Vedicpandit skilled in the

recitation of mantras. The *mantras* are believed to possess "*achintyaprabhāva*," an unpredictable yet potent positive influence, on *visha*, which refers to poisons[11].

In the treatment of *mudagarbha* (obstructed labor), even in such critical situations, *Āchārya Vāgbhata* emphasizes the importance of chanting *mantras*[12].

In the "*Yukta Seneeyam Adhyāya*," a chapter dedicated to military medicine, *Ācharya* recommends the presence of both a "*rasavisaradavaidhya*" (a doctor well-versed in matters of *rasa* andguna) and a "*mantra vishāradpurohita*" (a *Vedic* expert)[13]. In this context, a "*rasavishārada*" can contribute to "*Yuktivyapāshrayachikitsā*" (rational treatment), while a "*mantra vishāradpurohita*" can play a role in "*daivavyapāshrayachikitsā*." to safe guard the king.

Mantras to make the *grahas* (astrological planetary position) in favour.

Āchārya Sushruta emphasized the significance of comprehending various *shastras*[14], stating that a doctor should be a *sarvatantrakushala* (versatile genius). Within the realm of Ayurveda, the knowledge of *Jyotisha Sastra* (Astrology) can offer manifold benefits. Astrology involves the assessment of whether a planet's position is favorable or not, a critical consideration in the context of disease prognosis and treatment. *Āchārya Vāgbhata* suggests that diseases are more easily managed when the planets align favorably.

Using *mantras* as a boosting measure/action enhancing/ potentiating measure

In the *Saühitās*, the *āchāryas*' counsel includes the practice of looking for specific stars and chanting *mantras* during various phases of medicinal processes. These stages encompass the collection of medicine[15], the preparation of medicinal compounds[16], and even the actual consumption of the medicine[17].

Several instances in the *Saṃhitās* highlight the importance of *mantra* chanting. For example, before the administration of *vamanadravya* (medicine for vomiting therapy) for inducing vomiting, physicians are instructed to chant *mantras* for the success of the therapy[18].

In the context of *rasāyanam* (rejuvenation therapy) aimed at

promoting longevityit is explained that medicaments potentiated by hymns will yield results within a year.[19] [20] [21]

The "*Āditya Hṛdayam*" is a hymn that praises the glory of the *Aditya* (the Sun deity). Lord *Rāma* was fatigued, filled with sorrow, and deeply contemplating during the battle against the well-prepared *Rāvaṇa, Agastya* noticed his state and imparted these words to *Rāma* : "This is the sacred hymn *Āditya Hrudayam*, which annihilates all adversaries, bestowing victory and eternal happiness when chanted consistently"[22].

Mantra to calm the mind

Research findings suggest that *mantras* have a beneficial impact on the mind. Chanting *mantras* and listening to mantras induces chemical changes in the brain, leading to the relaxation of brainwaves. This process aids in detoxifying the mind and cleansing cellular toxins by acting on synaptic channels[23].

It's a common belief that a calm and quiet mind is conducive to effective studying, and it is well-known that activating the parasympathetic nervous system can reduce anxiety. Studies on the chanting of "*OM*" indicate that even a brief, 5-minute session of *OM* chanting can enhance parasympathetic nervous system activity, promoting relaxation and a sense of calm[24].

These findings may shed light on why our āchāryas incorporated chanting in *Śiṣyopanayanam* (formal induction ceremony)[25]. In this context, it is advised to chant the *praṇava mantra* (*Om* chanting).

Mantra to invoke the concentration

A calm and quiet mind is instrumental for achieving proper concentration[26]. In contrast, anxiety can severely hinder a person's ability to concentrate[27]. Research has uncovered that chanting exerts a significant positive influence on attention, memory, anxiety, and mental state[28]. This insight may provide the rationale behind *Āchārya Sushruta's* recommendation to engage in *mantra* practice before *sastra karma* (surgical procedures). This practice is primarily aimed at preventing distractions of the mind during critical surgeries [29].

In a pioneering study known as the 'Sanskrit effect,' MRI scans were employed to examine the brains of professionally trained Sanskrit pandits (scholars) in India. The findings revealed that memorizing ancient

mantras resulted in the enlargement of brain regions associated with cognitive function[30].

Mantras as a protective measure

Protective measures for surgical patients in cases of bleeding, pus, and related issues are elucidated in the "*Agryopaharaneeyam Adhyāyam*" (prior arrangement of accessories) and the "*Vranitopasaneeyam Adhyāya*" (care of wounded person) within *Sushruta Samhitā*. These texts recommend the chanting of *Vedokta mantras* (hymns from the Vedas), to ward off the fear of *rakshasas* (evil organisms).[31] [32]

In the "*Janapadodwamsaneeya Adhyāya*," *Āchārya Charaka* prescribes a measure for self-protection by chanting *mantras*[33].

In the "*Astānga Sangraha* text," it is recommended that a Brahmin well-versed in the Atharvaveda should conduct a *shānti karma* lasting ten days as a component of balopachara. *Shānti karma* is a ritual performed to establish peace and harmony, often involving the recitation of specific *mantras* and prayers[34].

Āchārya Kashyapa, in the *Kashyapa Samhitā*, advises pregnant women to tie *varanabandha* (resembling a bracelet) and chant the *matangividhya* before the eighth month of pregnancy. This practice is possibly intended to prevent or safeguard against premature delivery or abortion and alleviate any associated fears[35].

Āchārya Sushruta offers guidance on mitigating the adverse effects of dreams by recommending the chanting of the *tripadagāyatri mantra*[36].

Mantra to ease labour

To facilitate "*sukhaprasava*" (ease in labor) and prevent harm to the developing fetus inside the womb, specific *mantras* are recommended for chanting.[37]

Women in labor experiencing fear or severe pain can produce elevated adrenaline levels, which inhibit uterine contractions, causing a disruption in labor. To address this, the *Chyavanmantra* has been studied and found to have positive effects.[38]

Positive effect of *Mantra* chanting on environment

In the *Charaka Saṃhitā*, Ācharya advises the performance of devatarchana (worship of gods) as a part of the treatment for

jnapadodwamsa (natural calamities).[39] Furthermore, research has been conducted to evaluate the role of *agnihotra* (*Vedic* ritual involving the lighting of fire) in the environment.[40]

Mantra as a treatment measure

Āchārya Charaka notes that disappointment or distress can exacerbate illness (*vishadorogavardhananam*).[41] Chanting *mantras* that impart positive energy can help alleviate this distress.[42]

In the treatment of certain diseases like *jwara* (fever)[43], *āgantuja-unmāda* (sudden-onset madness)[44], *rājayakṣāmā* (a type of tuberculosis)[45], and *āgantujaśotha* (sudden-onset swelling)[46], *mantra* chanting is incorporated as a therapeutic measure.

Research studies have shown positive results from chanting *mantras* in patients with diabetes[47], high blood pressure[48], and fasting blood sugar in pregnant women[49].

Moreover, research into *Vinyasa yoga* combined with *mantra* chanting has demonstrated significant improvements in language and orientation skills among children with cerebral palsy.[50]

Table no-1, Specefic *Mantras* having curative effects.

References of mantras having a curative effect on diseases	
Viṣṇu sahasranāmstotrām 127, 128	*Sarvarogahara*
Chakṣshopaniṣad-of *Kriṣṇa Yajurveda*	Eye disease
Ṛgved 1.50.12	Hrudayaroga
Ṛgved 8.80.5,6	For hair care
Ṛgveda 1.50.11	*Hrudroga*
Atharvaveda 2.32.1	*Krimi*
Atharvaveda 1.22.1	*Hrudroga*, Jaundice
Atharvaveda 3.11.1	*Raja yakshma*
Atharvaveda 4. 13 -686-692	*Roganivaranasukta*

Conclusion

Daivavyapāshraya Chikitsā is one among *Trividha Chikitsā* of all the *daivavyapāsrayachikitsās*, *mantra chikitsā* is the versatile one and may be applied in all life circumstances. An individual only needs "time

and interest" to practice it.

This comprehensive exploration of *Vedic mantras* reveals their enduring significance in various aspects of life and well-being. These ancient syllables and words, meticulously crafted and chanted with precision, serve as keys to unlock doors to multiple dimensions of existence. *Mantras* are not mere bits and pieces of the past but continue to offer profound benefits in the modern world.

Mantras play a vital role in enhancing the quality of life. They have been employed as a safeguard, a life-saving measure in critical situations, and as an aid to invoke planetary favor. These practices find their roots in the ancient texts and epics, supported by scientific investigation and experimental evidence.

Mantras have also demonstrated their efficacy in promoting mental calm, enhancing concentration, and offering protection. Research indicates that chanting *mantras* induces chemical changes in the brain, detoxifying the mind and reducing anxiety. Moreover, the incorporation of *mantras* in various therapeutic measures has shown positive results in treating diseases like diabetes and high blood pressure.

The 'Sanskrit effect', where the memorization of ancient *mantras* led to the enlargement of brain regions associated with cognitive function, underlines the cognitive benefits of *mantra* practice. Furthermore, *mantras* have been found to have a positive impact on the environment, contributing to natural calamity management.

This study highlights that the wisdom encapsulated in the *Vedas* and the power of *Vedic mantras* continue to enrich our lives, offering solutions to diverse challenges and nurturing well-being in a holistic sense. The profound knowledge encoded in these ancient treasures remains a valuable resource for addressing contemporary concerns.

Further scope

As it is said that the effect of *mantra* is *prabhāvajanya*/ unforeseen we can incorporate the chanting along with *yuktivyapāsrayachikitsā* so that the results of treatment can be improved. In that aspects, more and more researches are to be conducted to popularize the effect of chanting so that even common people can take advantage of that. Hospitals, workplaces, or gyms may play the recordings of mantras in a feeble voice so that it may relieve the stress of patients/common people.

References

1. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.77P.
2. Kanta DRR. 5. In: Shabdakalpadruma. 3rd part. Varanasi; Chaukhamba Amarabharati Prakashan; p. 917.
3. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 82P.
4. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 341P.
5. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.349P.
6. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 342P.
7. *https://www.valmikiramayan.net/utf8/baala/sarga15/bala_15_frame.htm dated 16-10-23 time 16.23*IST
8. Mohan. S, Prof. Dr. GeethaViswanathan. Effect of vedic chanting on plant growth parameters (vignaradiata). International Research Journal of Engineering and Technology (IRJET). Sep 2019; 06 (09); 422-426 p.
9. *https://www.wisdomlib.org/hinduism/book/rig-veda-english-translation/d/doc835080.html dated 16-10-23 time16.23*IST
10. English translation of Skandapurana Part 3 Uttarardh chapter 3. Reprint. Delhi; Motilalbanarsidass publishers, 1982-1990; 108p. (*https://www.holybooks.com/wp-content/uploads/The-Skanda-Purana-Part-3.pdf*)
11. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.575p.
12. Sivaprasad Sarma, editor. Astamgasangraha of Vruddha Vagbhata Sasilekha Sanskrit Commentary. 3rd edition. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit series; 2012. 296p.

13. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.147p.

14. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.18p. (Su Su 4/ 7) Sivaprasad Sarma, editor. Astamgasangraha of Vruddha Vagbhata Sasilekha Sanskrit Commentary.

15. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012. 505p.

16. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.575p.

17. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 94p.

18. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 654p.

19. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012. 501p.

20. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 384p.

21. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. SusrutaSamhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.457p.

22. *https://www.valmikiramayan.net/yuddha/sarga105/yuddha_105_frame.htm dated 17-10-23 time 10.50* IST

23. Jai Paul Dudeja. Scientific Analysis of Mantra-Based Meditation and Its Beneficial Effects: An Overview. International Journal of Advanced Scientific Technologies in Engineering and Management Sciences (IJASTEMS). June 2017; 3(6); 21-26

24. Ganagarajan Inbaraj, Raghvendra Rao M, Amritanshu Ram, Sapna K. Bayari, Spoorthi Belur, Prathyusha PV, T. N. Sathyaprabha, Kaviraja Udupa. Immediate Effects of OM Chanting on Heart Rate Variability Measures Compared Between Experienced and Inexperienced Yoga Practitioners. nternational Journal of Yoga. March 2022;52-58

25. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.11p.

26. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 292p.

27. Lauren S. Hallion, Ph.D, Shari A. Steinman, Ph.D, and Susan N. Kusmierski, B.A. Difficulty Concentrating in Generalized Anxiety Disorder: An Evaluation of Incremental Utility and Relationship to Worry. J Anxiety Disord.2018 January.

28. Shambo Samrat Samajdar, Shatavisa Mukherjee, Anushka Ghosh, Shashank Joshi, Santanu Kumar Tripathi. Gayatri Mantra Chanting and its Effect on Attention, Memory, Anxiety and Mental State in Young Athletes : A Prospective Study. International Journal of Current Reseach in Physiology and Pharmacology. July 2020; 4 (3); 5-7p.

29. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.21p.

30. James Francis Hartzell. Neuroscientist Explores the "Sanskrit Effect". Scientific American. January 2, 2018.

31. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.22p.

32. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.92p.

33. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.241p.

34. Sivaprasad Sarma, editor. Astamgasangraha of Vruddha Vagbhata Sasilekha Sanskrit Commentary. . 3rd edition. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit series; 2012. 629p.

35. Sri Satyapala Bhisagacharya, translator. Kasyapa Samhita of Vriddha Jivaka with Vidyotini Hindi Commetory. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2018. 200p.

36. Acharya YT, Acharya Narayan Ram, editor. Susruta Samhita of Susruta with Nibandhasamgraha commentary. Reprint.Varanasi; Chaukhambha Sanskrit Sansthan; 2012.136P.

37. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.347P.

38. Arohi Sanjay Rangane, Vishala. A Clinical Study to Evaluate the Efficacy of Mantra and Yantra Chikitsa on Sukhaprasava. International Research Journal of Ayurveda & Yoga. December 2021; 4 (12); 15-20

39. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 241P.

40. Abhang Pranay, Patil Manasi, Moghe Pramod. Beneficial effects of agnihotra on environment and agriculture. International Journal of Agricultural Science and Research (IJASR). Apr 2015; 5 (2);111-120

41. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 132 P. 42. Gemma Perry, Vince Polito, William Forde Thompson. Chanting Meditation Improves Mood and Social Cohesion. Proceedings of 14th International conference on Music perception and cognition San Francisco, CA, USA. July 2016.

43. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 426P.

44. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010. 474P.

45. Acharya YT, editor. Charaka Samhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.467P.

46. Acharya YT, editor. CharakaSamhita of Agnivesha with Ayurveda Dipika commentary. Reprint. Varanasi; Chaukhambha Krishnadas Academy; 2010.106p.

47. Ramkanya Menariya, Harshwardhan Singh, Parmesh Tank, Jeevan Menaria. Prophylactic Role of Mandukasan and OM Chanting Patients Who Survives with Diabetes. Journal of Drug Delivery & Therapeutics. September, 2021; 11(5); 5-7

48. K. Anjanaa, R. Archana b, J.K. Mukkadan. Effect of om chanting and yoga nidra on blood pressure and lipid profile in hypertension. A randomized controlled trial. Journal of Ayurveda and Integrative Medicine. 2022 Oct-Dec;13(4); 100657

49. S. Ezhilarasi, Dr. S. Murugesan. Effect of yogic practices with Mantra chanting on fasting blood Sugar and stress among pregnant Women. International Journal of Emerging Technologies and Innovative Research. March-2022; 9 (3); 719-723p.

50. Das Deb, Selvalakshmi, K Subbulakshmi. Impact of Vinyasa Yoga With and Without Mantra Chanting on Language and Orientation Skills Among Children With Cerebral Palsy. AJANTA. 2019; 8(2); 158-162P.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (147-159) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Educational Administration and Management of Vedic Gurukulas : A Systematic Review Literature

- Surbhi Tak*

-Prof. Asit K. Mantry*

Abstract

This paper presents a systematic literature review that aims to portray an overview of the educational administration and management of Vedic Gurukulas, which represent the ancient Indian education system. In addition, the article synthesizes findings about educational administration and management, the teaching-learning process, and the role of the guru in the Gurukulas. The systematic literature search was performed in accordance with the PRISMA-2020 statement, the initial search across four databases (Eric, Scopus, Web of Science, and Academia) for research papers and books. A total of 200 studies were reviewed for the present article. By applying the criteria for inclusion and exclusion, only 28 papers were shortlisted for the present article. The results show that Gurukula represents an effective model of an educational institution. Further on, it also represents a distinctive method of utilizing human resources for the smooth functioning of the education system. Moreover, the framed curriculum of the Gurukula was an incredible amalgamation of literary, scientific, and skill-based education.

Keywords : Ancient Indian Educational System, Educational Administration and Management, Gurukulas, Indian Knowledge System.

Introduction

Gurukul system of education is a heritage of Indian knowledge system. It is as old as the history of human civilization. It was common

* Research Scholar, Department of Educational Studies, Central University of Jammu, J&K.

** Faculty, Department of Educational Studies, Central University of Jammu, J&K.

throughout the Indian subcontinent until the British developed the day-boarding system to impart western knowledge to natives of India (Bhattacharya & Sachdeva, 2021). The word Gurukula is compromised of two words- '*Guru*' which means *teacher* and '*Kula*' which means *home*. It means gurukula is a home of guru (Karve, 2013). It is a kind of residential school where students lived in the home of their teacher to attain education. The functioning of the gurukula is based on the principal of '*Guru-Shiṣya Paramparā*' (Sooklal, 1990). It refers to a close bond or connection between the teacher and pupil. The teaching-learning process in the Indian knowledge system had given greater emphasizes on imitation and association (Frederick, 2016). Therefore, it best suited for the pupils to reside inside the gurukula, or the guru's extended family. It helps the guru (teacher) to shape the personality of the shishya (pupil) holistically (Joshi, 2021).

Throughout the teacher-student interaction, there was an indescribable closeness. Self-realization and self-improvement were the ultimate goals of learning, which was an ongoing process. There was little room for careerism and all its associated issues in the guru-shishya relationship (Sooklal, 1990). The guru and the shishya had little material requirements; therefore, desire, jealousy, spite, and a competitive spirit were rarely evident (Soni, & Trivedi, 2018). Positive detachment and calmness, which are essential for all civilized people in a community, were fostered in gurukulas (Shelly, 2015).

Gurukulas were established during the Vedic era (between 1500 BC and 600 BC), when education was transmitted orally and maintained through the Guru-shiṣya tradition (Kumar, 2016). These Gurukulas gradually took on institutionalized forms, and the system began to operate to disseminate knowledge of all kinds (Jagathkar, 2019; Nair, 2016). The philosophy of gurukula education was to enlighten the students with knowledge. Further, it equipped the students with a sense of harmony with nature and lives in peace within society. It is possible to argue that the student received instruction on how to live as a responsible member of society in the future (Parrek, 2021; Sengupta, 2021).

This review of the Gurukulas' educational administration and management aims to investigate and comprehend a historical Indian educational institution that has profoundly influenced the intellectual and cultural foundations of Indian society. The objectives of this review are to evaluate the applicability and relevance of the Gurukula system in the

current educational environment while highlighting the concepts, procedures, and practices that made it up. This review looks at the philosophical foundations and historical background of the Gurukula system in an effort to provide light on how its all-encompassing approach to education might add to the current conversations about educational development and reform.

Review of the related literature

In recent years, systematic literature reviews have been increasingly conducted with the aim of enhancing scientific knowledge on the functioning of the gurukulas in ancient times. Those reviews have various focal topics such teaching-learning process, qualities of gurus (teacher), curriculum etc. More specifically, Ashraf & Naz, (2020) in their article described about the structure of educational system of the ancient India. Further on, the article also stated the learning centres in the ancient India. Joshi (2021) explained about Indian traditional school i.e. *Gurukula* and its education process while for instance Khan (2015) discussed social relevance of traditional school like Gurukulas in the Indian society.

In the same line, other studies have reviewed the teaching-learning process carried out in the gurukulas while for instance Altekar (2009) presented a scoping literature review on the salient features of the Indian knowledge system. The author described the various characteristics of the Gurukula education such as curriculum, discipline, teaching methods etc. Similarly, Mlecko, J.(1982) stated the methods of teaching practiced in the gurukulas. Shastri (2015) also focused on the aims and objectives of Gurukula's education. Further on, Selvamani (2019) discussed about the rich ancient Gurukul system of education of India and its way of imparting education to the learner. The author focused on the utility of the gurukulas for the society.

In the context of courses available in the gurukulas, Iyengar (2021) pointed out that Vedic education was given to the learners. In addition to Vedic education, learners were also equipped with sixty-four skills (Soni & Trivedi, 2018). Moreover, Kaladharan (2011) reported the artistic education provided in the gurukulas. It includes Kathali dance theatre and Kuttiyattam theatre.

Regarding to the role of Guru (teacher) in the Gurukula, Molligoda et al., 2020 reviewed the mentoring mechanism in the Gurukulas. Sooklal, (1990) described the role of the Guru in the Vedic and post-

Vedic ages as well as its influence in the contemporary period. Further, Neupane and Gnawali (2023) described the role of guru as an academic leader in the gurukulas.

With respect to the management of the traditional school like gurukula; Khan (2015) suggested that traditional schools are the best representation of the low cost schooling which imparts quality education. Further, Shanwal (2023) asserted the relevancy of gurukula's management in the modern era. By scrutinizing the above literature, the following research questions are framed for the current review paper:

1. How Gurukulas were managed in ancient times?
2. How was the teaching-learning process structured in Gurukulas?
3. What roles did gurus play in the administration and management of Gurukulas?

Methodology

To address the questions mentioned above, we adhered to the PRISMA-2020 statement as outlined in the following paragraphs in our systematic literature review (Fig. 1).

Data collection

To find relevant research, we looked through the following worldwide databases: Academia, Eric, Scopus, and Web of Science. These databases were selected because it was thought that they would be the most useful for finding material about the educational administration and management of the Gurukulas. The authors have included all the available research studies related to the review topic in the present article. The keywords used to search the research studies includes (ancient Indian education system OR Gurukulas) AND teaching AND (traditional schools OR religious schools OR indigenous schools). Authors utilized Google Scholar and applied snowball approach, in order to make sure that all significant references on the subject were covered.

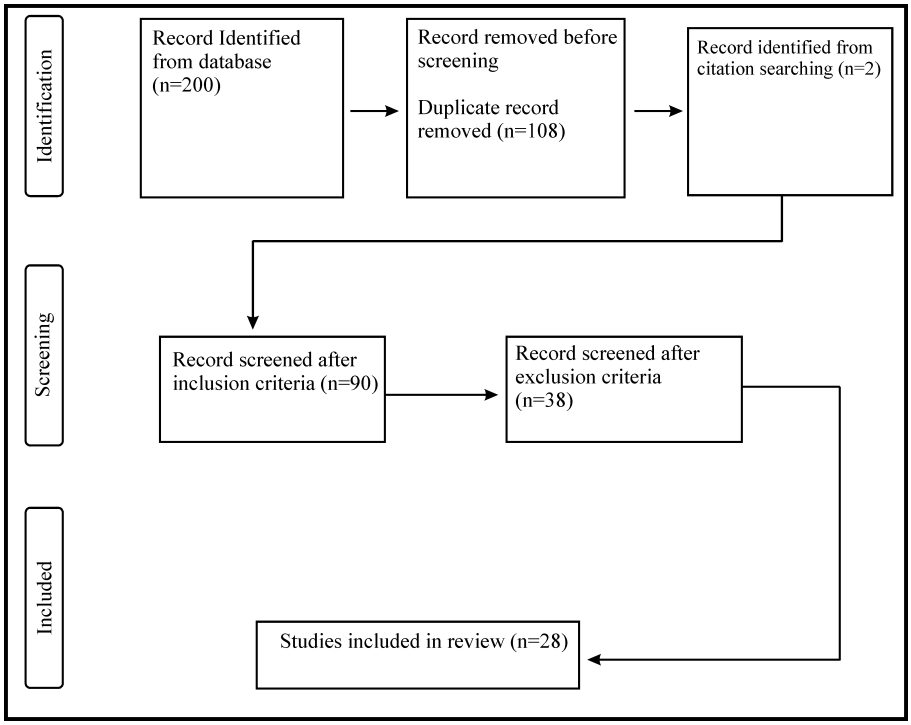

Fig 1 : PRISMA (2020) flow diagram for the selection of relevant studies for the present article

Criteria of inclusion and exclusion

Firstly, authors have identified 200 studies for the present review article. In order to find out the relevant studies for the present article; the following criteria was employed.

Criteria for Inclusion

The study context is gurukulas (which indicates ancient Indian educational system).

The study includes role of teacher in gurukula.

The study is written in English.

The study is an article or book chapter.

The study has been published in conference proceedings or a peer-reviewed journal.

Criteria for Exclusion

The study context is not Gurukulas (which indicates ancient Indian educational system).

The study based on educational institution other than Gurukulas.

The article is not peer-reviewed.

The study is a meta-analysis, discourse analysis or (systematic) literature review.

The screening process excluded 122 studies.

The full texts of the remaining 38 studies were assessed by the first and the second author, who retained studies focusing on gurukulas and excluded studies that involved other traditional or indigenous schools. Studies about ancient universities are beyond the scope of this review, which aims to investigate educational administration and management of the gurukulas.

Additionally, two more articles have been added as a result of citation search. Articles or book chapter had to meet certain requirements in order to be considered for inclusion, such as publishing in peer-reviewed journals, topic relevance, and the provision of a thorough analysis of the results in relation to the formulated research questions for the present research article. Finally, 28 relevant research studies were selected to collect the data for the current article.

Analysis of the Data

The study's analysis was thematic, and its synthesis was narrative. The collected studies were analyzed based on the following areas of focus: administration and management of Gurukulas, teaching-learning process followed in the Gurukulas and role of guru in the Gurukulas. Each stage of the analysis was reviewed and approved by the authors in consensus meetings. The table 1 contains data that was taken from the 28 research articles.

Table 1: Number of studies included in the analysis

S.No.	Focus Area	No. of Studies
1.	Administration and management of Gurukulas	12
2.	Teaching-learning process followed in the Gurukulas	10
3.	Role of guru in the Gurukulas	06
	Total Studies	**28**

Research findings

The general characteristics of the present study includes

The general features and findings of the 28 studies that were examined are first presented. It includes 24 research papers and 4 books. Further on, six studies are internationally published and 22 studies are nationally. Most of the studies are based on Indian context. However, one study is from Nepal. Though the results indicate that the majority of the researches published are centered in the previous five years, the search for relevant studies includes the years 2011 to 2023. However, the statements of the books written in the year 1982, 1990 and 2009 are also included in the present study. The majority of the methodologies employed were qualitative. A summary of the findings based on our examination of the 28 studies in accordance with the corresponding research questions is provided in the section that follows.

Mechanism of educational administration and management in Gurukulas.

Investigators examined the twelve publications that were included in our literature review in order to explore the educational administration and management of Gurukulas. Four studies (Altekar, 2009; Larios, 2017; Singh, 2017; Parrek 2021) indicated that gurukulas were set up in the forest. It provides an environment to the learners to practice meditation that helps to prepare their mind set to live a secluded and peaceful life (Patil, 2021). Further papers three papers (Basak, 2023; Soni & Trivedi 2018; Sindhuja & Ashok, 2021) stated that the gurukulas also had workshops for practicing agricultural and cattle rearing activities. From these revealing it can be analyzed that the gurukula managed both academic as well as vocational courses under one roof. Learners were equipped with sixty-four skills. It shows that gurukulas were well equipped physical resources. Further on, two papers (Neupane & Gnawali, 2023; Panda, 2021) suggested that gurukulas were managed by single teacher. However, senior pupils of the gurukulas also contributed in its management. It can be say that human resource was the greatest asset in the management of the Gurukulas. In the Vedic era, everyone was eligible to attain education in Gurukula without any discrimination. However, in the post Vedic era, admissions were based on the societal hierarchy and only limited students who belong to high strata of the society could seek admission in the Gurukulas (Altekar, 2009; Timilsina,

2016). Further, the gurukula provided free education to the pupils. The finance as well physical resources of the gurukulas were managed by the society through donations (Sooklal, 1990).

Teaching-Learning process in the Gurukulas

Eleven papers are analyzed to know the process of teaching and learning in Gurukulas. In ancient India, gurukulas were mainly driven by the Vedic system of education. It was based on the teachings of Vedas (Altekar, 2009). Three papers (Ferrer, 2018; Selvaman, 2019; Sarkar & Mal, 2023) stated that pupils were taught by three methods : the *listening, rhyming,* and *analyzing* of hymns. Individual attention was given to each student. The primary aim of the education was to develop the holistic personality of the pupil in five aspects such as physically, intellectually, emotionally, morally and spiritually (Joshi, 2021). In order to develop the physique of the pupil physical activities like wood collection, hunting, horse riding, archery (dhanur vidya), talwarwazi (fencing technique) were taught to students (Pohar, 2021). Further for intellectual development the knowledge of Vedas, history, astrology, philosophy, literature, polity, medicine, warfare, and religion according to a set curriculum given to pupils (Diwan 2015; Soni & Trivedi 2018). Pupils were sent to village for begging alms in order to attain the emotional and moral values. Furthermore, students are equipped with various techniques of meditation in order to enhance their spiritual growth (Patil & Patil, 2023; Pal 2022). Moreover, the primary emphasizes of the curriculum was on speaking skills of the pupils. Hand beats were employed for the proper pronunciation of the sacred hymns (Molligoda et al., 2020; Sooklal, 1990). Further, Dhaliwal, (2020) claimed the curriculum was based on values and practical knowledge. Learning through *experience, discovery method and didactic method* were the main teaching strategies. Further on, evaluation is based on applicability of learned knowledge to real life situation.

Role of Guru in Gurukulas

A total number of seven papers were analyzed to find out the role of guru in gurukula (Mlecko, 1982) asserted that the guru was the main transmitter of knowledge in ancient India. He was considered as equivalent to trinity divine (Brahmā, Viṣṇu, Mahesh; Three Hindu divine). Form the analysis of three papers, (Karve, 2013; Kaladharan,

2011; Sooklal, 1990) it was found that Guru possessed some psychic energy which he acquired through rigorous meditation. Further, he is described as the source and inspirer of the knowledge of the self, or the essence of existence, for the seeker. Further on, two studies (Shanwal, 2023; Shastri, 2015) claimed that Guru and his Śiṣya relationship was one of mutual spiritual exchange. The role of the Guru was not only limited to intellectually and verbally explain the sacred scriptures. However, he also prepared his pupils for the societal life and its challenges. Further, he also focused on the health, sleep, diet and the company of his pupils (Bhattacharya & Sachdeva, 2021). In addition, *Pāṇini* refers to a "*vidyā-sambandha*" as the bond between the guru and the students that preserved the tie between the two by way of understanding (Sooklal, 1990). This bond was just as strong as a father and son's biological bond. It can be analyzed that guru was a man of charater who posesees the qualities like honesty, responsibility and parenthood. Further, we can say that he is an ideal leader for an educational institution.

Discussion and Conclusion

In the present paper, investigators have presented a systematic literature review that aims to shed light on the educational administration and management of the Vedic Gurukulas. This contribution is particularly relevant in light of increasing research on the Indian knowledge system and filling the gap of the need to obtain a more profound understanding of the published literature with a focus educational administration, teaching-learning process and role of Gurus in Gurukulas. For the present paper a detailed analyzed was 28 papers were done. The findings revealed the Gurukulas were the effective and efficient educational institutions in India. Further, it is observed that the infrastructure of the Gurukulas was up to the mark because it provided residential facilities to the learners. Furthermore, they were well equipped in providing the academic as well as vocational education to the pupils.

The Gurukula was managed under the leadership of a single teacher. It indicates that a true teacher can also be true academic leader. It is also found that teacher and pupil live together in same place and have relation of father and children. Further on, senior students helps the guru in teaching practices while the junior students help the Guru in various activities of the institution like cleaning, cooking, and other chores. This collaboration between teacher and learners is the essence

in the smooth functioning of the gurukul. The curriculum of the Gurukula was framed in such a way that it prepared the students for the challenges of the real life. The methods of teaching were purely based on hands on experience.

In nutshell, the aim of the present paper was to know the strategies of the gurukula in imparting quality education to the learners. From the above finding, it can be concluded that Gurukula represents a unique model for the optimal utilization of human resources in the functioning of an education institution. Further on, it represented an ideal relationship between a teacher and a learner.

References :

1. Altekar, A.S. (2009). Education in ancient India. *Gyan Publishing House*.
2. Ashraf, I. & Naz, A. (2020). A conceptual and philosophical approach towards educational system from an ancient Indian perspective. *Perennial Journal of History (PJH)*, 1(1), 37-47.
3. Basak, S. (2023). Impact of understanding the ancient Indian educational value system. *National Journal of Hindi and Sanskrit Research,* 1(47), 13-15.
4. Bhattacharya, S. & Sachdeva,B.(2021). Gurukul system versus modern education in India- A need for amalgamation of the two systems to eliminate the crisis of illiteracy, economy and social problems of the society. *International Journal of Recent advances in Multidisciplinary Topics*,2(11).
5. Diwan, S. (2015).Small schools in rural India: 'Exclusion' and 'inequity' in hierarchical school system. *Policy Feature in Education*, 13(2) 187-204.
6. Dhaliwal, S.(2020). India and Western questioning methods: Comparing Socrates and Gurukul tradition of teaching. *Purva Mimaansa*, 11(2).
7. Frederick, A.G.(2016). A comparative study between Gurukul system and western system of education. *IRA International Journal of Education and Multidisciplinary Studies*,3(1).
8. Ferrer,A.(2018).Integral Education in Ancient India from Vedas And Upanishads To Vedanta. *International Journal of Research Granthaalayah*, 6(6).

9. Iyengar, R.N. (2021). Indian Heritage of Gurukula System, Ethics, Student -Teacher Relationship. *Asian Journal of Professional Ethics and Management.*

10. Joshi, D. (2021). Gurukul and Modern Education System in India: Holistic Outlook. *International Journal of Engineering Research And Management*, 8(2).

11. Jagathkar, A. (2019). Building India, a country of innovations. *IARS' International Research Journal*, 9(1), 2-22.

12. Khan, I.M. (2015). Relevance of traditional indigenous systems of schooling. *International Journal of Management and Humanities*,2(1),4-7.

13. Khan, I.M. (2015). Traditional indigenous systems of education as low cost feasible alternatives. *International Journal of Social Sciences and Interdisciplinary Discipline*, 4(1), 19-20.

14. Karve, S. (2013). Comparative study of ancient gurukul system and the new trends of guru-shishya parampara. *American International Journal of Research in Humanities, Arts and Social Sciences*, 2 (1), 81-84.

15. Kumar, S. (2016). Gurukula system of education in ancient times. *Business Sciences International Research Journal*, 4(2),44-45.

16. Kaladharan, V. (2011). From meditative learning to impersonal pedagogy: Reflections on the transformation of an Indian Gurukula. *Qui Parle*, 20(1), 207-218. https://doi.org/10.5250/quiparle.20.1.0207

17. Larios, B. (2017).Embodying the Vedas. *De Gruyter Open Ltd, Warsaw/Berlin.*

18. Mlecko, J. D. (1982). The Guru in Hindu Tradition. *Numen*, 29(1), 33-61. https://doi.org/10.2307/3269931

19. Molligoda, S.P., Sooriyaarachchi, B. S. M. M. & Palathiratne, S. M. (2020). A literary review on mentoring in the eastern world. *World Journal of Pharmaceutical Research*, 9(14),30-37.

20. Neupane, B.P. & Gnawali, L. (2023).Guru as an Academic Leader in Vedic Tradition: A Review. *Bodhi*, 9(1), 218-233.

21. Nair, M. (2016). The relevance of gurukul system of education in our modern education system to transform the engineering

education: An experimental study. *International Journal of Innovations in Engineering and Technology*, 384-390.

22. Parrek, A. (2021). A survey on gurukul system. *Journal of Contemporary Issues in Business and Government*, 27(3), 714-715.

23. Patil, L.(2021). Gurukul education system of ancient India and *Indian education Policy Historical practice of 1947-2019 A.D. Ansh Journal of History*, 8(2).

24. Panda, A.K. (2021). Satyabadi bana vidyalaya of pandit gopabandhu das: A case study in educational leadership. *International Journal of Studies in Public Leadership*, 2(1).

25. Pohar, R.K. (2021). Historical analysis of physical activities and sports in ancient India. *Purva Mimaansa*, 12.

26. Pal, P.K. (2022).Education psychology in the Ancient Indian Gurukula System. *International Journal of Sanskrit Research*, 8(1), 141-146.

27. Patil, V.K. & Patil, K.D. (2023).Traditional Indian Education Values and New National Education Policy Adopted by India, *Journal of Education*, 203(1),242-245.

28. Shastri,S.(2015). Gurukula system - An effective concept in redefining modern teaching and learning practices. *International Journal of Multidisciplinary Research*, 1(2).

29. Shanwal, V.K. (2023). Development of the Gurukula Education System in India. *Journal of Education and Teacher Training Innovation*, 1(2),60-67.

30. Selvaman, P. (2019). Gurukul System- An Ancient Educational System of India. *International Journal of Applied Social Science*, 6(6), 1620-1622.

31. Shelly, K. (2015). Relevance of gurukul education system in present circumstance: a philosophical perception. *Journal of Philosophy, Culture and Religion*, 12, 9-10.

32. Soni, B.K. &Trivedi, J.C.(2018). A case study on gurukula system of education.A Contemporary Approach by Goitirth Vidyapeeth. *Rajagiri Management Journal*, 12 (2),35-58.

33. Sindhuja C.V & Ashok H.S. (2021).Education in India: A historical Perspective. *Education India Journal: A Quarterly Refereed Journal of Dialogues on Education*, 10(3), 47-64.

34. Sarkar, S. & Mal, S. (2023).Thoughts of curriculum in Vedic education system: An analysis. *International Journal of Sanskrit Research*, 9(3).

35. Sengupta, S. (2021). A comparative study on gurukul education system and google classroom: *Present scenario, Jamshedpur Research Review*, 1(44), 58-64.

36. Singh, S. (2017). The Educational Heritage of Ancient India. *Notion Press.*

37. Sooklal, A. (1990). The guru-shishya parampara a paradigm of religious-cultural continuity. *Journal for the Study of Religion*, 3(2), 15-30. http://www.jstor.org/stable/24763985

38. Timilsina, R. R. (2016). Gender Perspective to Vedic Education: Current Practices in Nepal. *Dhaulagiri Journal of Sociology and Anthrapology*, 10, 144-165.

https://doi.org/10.3126/dsaj.v10i0.15884

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (160-167) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Rectifying and Clarifying the Illusionary Thoughts on Vedas: A Logical Analysis Based on Śāstras

-Dr. Narendrakumar D. Vasava*

Abstract

This research paper addresses and rectifies the misconceptions held by critics regarding the Vedas. By delving into the Shastras, we seek to provide logical proof and arguments that clarify these illusionary thoughts. The objective is to offer a comprehensive understanding of the Vedas, grounded in traditional and contemporary scholarly analysis. This study employs a qualitative methodology, analyzing texts from various Shastras and Vedic scriptures.

Key words : Vedas, Śāstras

Introduction

The Vedas, revered as the most ancient and authoritative scriptures in Hinduism, have been the cornerstone of Indian spiritual and philosophical thought for millennia. Comprising four main texts-the Ṛgveda, Sāmaveda, Yajurveda, and Atharvaveda-the Vedas encapsulate a diverse array of hymns, rituals, and philosophical discourses. Despite their profound influence and revered status, the Vedas have not been immune to criticism and misinterpretation. Critics, often approaching these texts from a modern or external perspective, have raised several objections and misconceptions, questioning the relevance, coherence, and ethical implications of Vedic teachings.

Critics frequently point to aspects such as the perceived ritualism, apparent contradictions, and the supposed endorsement of social hierarchies within the Vedas. These critiques often arise from a surface-level reading or a lack of contextual understanding of the texts. For

* Assistant Professor, Children's Research University, Gandhinagar.

instance, the ritualistic practices described in the Vedas are sometimes viewed as superstitious or irrelevant to contemporary life. Similarly, the mention of various social orders has led to allegations of promoting inequality, which overlooks the symbolic and philosophical dimensions of these references.

The objective of this paper is to address and rectify these misconceptions by drawing on the extensive corpus of Śāstric literature. Shastras, which include a range of classical Indian texts on philosophy, logic, ethics, and law, provide a robust framework for interpreting the Vedas. Notable among these are the Nyāya Śāstra (logic), Mimāmsā Śāstra (hermeneutics), and Vedānta (philosophical exegesis). These Śāstras offer intricate methodologies for understanding and elucidating the Vedas, emphasizing their underlying unity and philosophical depth.

By employing logical arguments and evidence from these Śāstras, this paper aims to clarify the illusionary thoughts held by critics. It seeks to demonstrate that many of the criticisms are based on misunderstandings or misinterpretations of the Vedic texts. For instance, the Nyaya Śāstra provides tools for logical analysis and debate, which can be used to counter the supposed contradictions in the Vedas. The Mimāmsā Śāstra offers principles for interpreting Vedic rituals and hymns, revealing their symbolic and spiritual significance. Vedānta, with its emphasis on the unity of all existence, counters the perception of social hierarchies as rigid or oppressive.

The methodology adopted in this study involves a qualitative analysis of primary and secondary sources, including Vedic texts, Shastras, commentaries, and contemporary scholarly works. This approach enables a comprehensive understanding of the context, content, and philosophical underpinnings of the Vedas. By integrating traditional Shastric interpretations with modern scholarly perspectives, this paper aims to offer a balanced and insightful analysis.

In addressing the critiques, this paper will explore specific case studies, examining how certain Vedic hymns and practices have been misunderstood or misrepresented. Through logical proofs and arguments, it will demonstrate the coherence and profundity of Vedic teachings, highlighting their continued relevance and spiritual significance. The ultimate goal is to foster a more accurate and respectful understanding

of the Vedas, dispelling the misconceptions and appreciating their timeless wisdom.

By providing a detailed and logically grounded analysis, this paper seeks to contribute to the ongoing dialogue between traditional Vedic scholarship and contemporary critical perspectives. It aims to bridge the gap between ancient wisdom and modern understanding, reaffirming the enduring value of the Vedas in the face of evolving interpretations and critiques.

Methodology

The methodology adopted in this study involves qualitative analysis of primary and secondary sources, including Vedic texts, commentaries, and scholarly works. This approach allows for an in-depth understanding of the context and content of the Vedas and their philosophical underpinnings.

Literature Review

1. Critics' Perspectives on the Vedas
   - Misinterpretation of Vedic Rituals and Practices
   - Allegations of Contradictions and Inconsistencies
2. Śāstras as a Source of Clarification
   - The Role of Śāstras in Interpreting Vedic Texts
   - Logical Frameworks Provided by Ancient Commentators

Analysis and Discussion

1. Understanding Vedic Philosophy
   - The Concept of Dharma and its Misinterpretations
   - The Symbolism in Vedic Rituals
2. Logical Proofs and Arguments from Shastras
   - Nyāya Śāstra : Logical Foundations and their Application to Vedic Interpretation.
   - Mimāmsā Śāstra : Hermeneutic Principles for Understanding Vedic Texts.
   - Vedānta : Philosophical Clarifications and Counterarguments to Criticisms.

3. Case Studies

- Misinterpretation of Specific Vedic Hymns
- Addressing Allegations of Contradictions with Logical Explanations

The Vedas, as the foundational texts of Hinduism, encompass a vast and profound array of hymns, rituals, and philosophical teachings. Misinterpretations and critiques often arise from a superficial reading of these texts, leading to misconceptions about their true nature and intent. This section addresses these critiques by delving into the logical proofs and arguments provided by Śāstras, specifically Nyāya, Mimāmsā, and Vedānta.

Understanding Vedic Philosophy

A primary criticism of the Vedas is their perceived emphasis on ritualism, which some modern readers interpret as archaic or superstitious. However, the rituals described in the Vedas are deeply symbolic, intended to represent cosmic principles and human experiences. For instance, the Agnihotra ritual, often dismissed as a mere fire sacrifice, symbolizes the connection between the macrocosm and microcosm, reflecting the unity of the universe. The Mimāmsā Śāstra provides a detailed hermeneutic framework for interpreting these rituals, emphasizing their spiritual significance rather than their literal execution. Mimāmsā scholars argue that rituals are a means to internalize Vedic wisdom and align human actions with cosmic order.

Another common misconception is the alleged contradictions within the Vedas. Critics point to varying interpretations of the same concepts across different hymns and texts. However, the Nyāya Śāstra, with its rigorous logical approach, addresses these perceived contradictions by providing tools for systematic analysis and reconciliation of texts. Nyāya logic asserts that apparent contradictions often arise from misunderstandings or incomplete interpretations. For example, the concept of Dharma is multifaceted and context-dependent, leading to seemingly divergent statements in different contexts. Nyāya scholars emphasize the importance of understanding the context and intent behind each statement to uncover the underlying harmony.

Logical Proofs and Arguments from Śāstras

Nyāya Śāstra, known for its focus on logic and epistemology, offers a robust framework for addressing critiques of the Vedas. Nyāya posits that knowledge can be obtained through perception, inference, comparison, and testimony. By applying these methods, Nyaya scholars demonstrate that the Vedas, when interpreted correctly, provide consistent and rational teachings. For example, the Nyāya Sūtras argue that the testimony of reliable sources, including Vedic sages, is a valid means of knowledge. This approach counters modern critiques that question the authenticity and authority of the Vedic texts.

Mimāmsā Śāstra, on the other hand, specializes in exegesis and ritual interpretation. Mimāmsā principles assert that every word in the Vedas has a purpose and contributes to the overall meaning. This meticulous approach to textual analysis helps clarify misunderstood rituals and hymns. For instance, the Mimāmsā Śāstra explains that the Vedic injunctions regarding animal sacrifices are symbolic and often metaphorical, aiming to teach moral and ethical lessons rather than literal practices. This interpretation challenges critiques that view the Vedas as endorsing violence or primitive rituals.

Ved Śānta, particularly Advaita Ved Śānta, offers profound philosophical insights that address the spiritual and metaphysical dimensions of the Vedas. Vedānta interprets the Vedas as revealing the ultimate unity of all existence (Brahman) and the illusory nature of individual identity (Maya). This perspective counters critiques that focus on the Vedas' social and ritual aspects, highlighting their deeper philosophical teachings. For example, the Vedantic interpretation of the Puruṣa Sūkta, a hymn describing the cosmic being, emphasizes the unity and interdependence of all creation, countering claims that it supports social hierarchies or discrimination.

Case Studies

To illustrate these points, consider the critique of the Varṇa system described in the Vedas, often perceived as endorsing rigid social stratification. Critics argue that the Puruṣa Sūkta, which describes the creation of different social classes from the cosmic being, promotes inequality. However, Vedantic interpretations reveal that this hymn symbolizes the functional diversity within society, akin to the different organs of a body, each essential for overall harmony. Nyāya and

Mimāmsā scholars further argue that the concept of Varṇa is based on qualities and actions rather than birth, promoting a meritocratic rather than hierarchical society.

Another example is the interpretation of the Nāsadīya Sūkta, a creation hymn in the Ṛgveda. Critics often cite its speculative nature as evidence of Vedic ambiguity. However, Nyāya logic and Vedantic philosophy interpret this hymn as an exploration of the limits of human understanding and the mystery of creation. It reflects the Vedic acknowledgment of the profound and unknowable aspects of the universe, encouraging humility and open-mindedness in the pursuit of knowledge.

In conclusion, the misconceptions about the Vedas often stem from a lack of contextual understanding and superficial readings. By employing logical proofs and arguments from Śāstras such as Nyāya, Mimāmsā, and Vedānta, this paper has demonstrated that many critiques are based on misunderstandings. A deeper engagement with these texts reveals their profound wisdom, coherence, and enduring relevance. The Vedas, when interpreted through the lens of Shastric logic and philosophy, emerge as a harmonious and insightful body of knowledge, guiding humanity toward spiritual and ethical growth.

Conclusion

The Vedas, as the ancient and foundational scriptures of Hinduism, have been subject to various critiques and misconceptions over the years. These criticisms often stem from a lack of contextual understanding and a superficial reading of the texts. Through this study, which employs logical proofs and arguments derived from the Śāstras-specifically Nyāya, Mimāmsā, and Vedānta-we have sought to address and rectify these misconceptions, providing a clearer and more accurate interpretation of the Vedas.

One of the primary critiques of the Vedas is their perceived emphasis on ritualism. Modern readers often view these rituals as archaic or superstitious. However, as discussed, the Mimāmsā Śāstra reveals that Vedic rituals are deeply symbolic, representing cosmic principles and human experiences. They are not merely about external acts but about internalizing spiritual wisdom and aligning human actions with cosmic order. By understanding the symbolic nature of these rituals, we can appreciate their spiritual significance and relevance even in contemporary times.

Another significant criticism is the alleged contradictions within the Vedas. Critics point to varying interpretations of concepts across different hymns and texts, leading to claims of inconsistency. The Nyāya Śāstra, with its rigorous logical approach, helps address these perceived contradictions. It provides tools for systematic analysis and reconciliation of texts, emphasizing the importance of context and intent. Through this logical framework, we can uncover the underlying unity and coherence of Vedic teachings, demonstrating that apparent contradictions often arise from misunderstandings or incomplete interpretations.

The Vedānta philosophy, particularly Advaita Vedānta, offers profound insights that address the spiritual and metaphysical dimensions of the Vedas. It emphasizes the ultimate unity of all existence (Brahman) and the illusory nature of individual identity (Māyā). This perspective counters critiques that focus on the social and ritual aspects of the Vedas, highlighting their deeper philosophical teachings. Vedānta interprets Vedic hymns like the Puruṣa Sūkta and the Nasadīya Sūkta to reveal their symbolic and philosophical significance, countering claims of promoting social hierarchies or ambiguity.

Case studies, such as the interpretation of the Varṇa system and the Nāsadīya Sūkta, illustrate how a deeper engagement with the Vedic texts can clarify these misunderstandings. The Varṇa system, often criticized for promoting social stratification, is revealed to symbolize functional diversity and interdependence within society. Similarly, the Nāsadīya Sūkta, which explores the mystery of creation, reflects the Vedic acknowledgment of the limits of human understanding and encourages humility in the pursuit of knowledge.

In summary, the misconceptions about the Vedas often result from a lack of understanding of their philosophical and symbolic nature. By referencing logical proofs and arguments from the Shastras, this paper has demonstrated that many critiques are based on superficial readings or misinterpretations. A deeper engagement with these texts, through the lens of traditional Shastric logic and philosophy, reveals their profound wisdom, coherence, and enduring relevance. The Vedas emerge not as outdated or contradictory texts, but as a harmonious and insightful body of knowledge, guiding humanity towards spiritual and ethical growth.

The implications of this study are significant for both scholars and practitioners. For scholars, it underscores the importance of contextual

and philosophical analysis in interpreting ancient texts. For practitioners, it reaffirms the spiritual and ethical teachings of the Vedas, encouraging a deeper and more informed engagement with these sacred scriptures. By bridging the gap between traditional wisdom and modern understanding, this study fosters a more accurate and respectful appreciation of the Vedas, contributing to the ongoing dialogue between ancient and contemporary perspectives.

In conclusion, the Vedas, when interpreted through the lens of Śāstric logic and philosophy, offer a rich and coherent body of knowledge that remains relevant and insightful for contemporary society. This study has sought to clarify and rectify the illusionary thoughts expressed by critics, demonstrating the profound and timeless wisdom contained within these ancient texts. As we continue to explore and engage with the Vedas, we can uncover deeper layers of meaning and understanding, enriching our spiritual and intellectual journey.

References :

- Apte, V. S. (1998). *The Practical Sanskrit-English Dictionary.* Motilal Banarsidass Publishers.
- Bhattacharyya, N. N. (2000). *History of the Tantric Religion.* Manohar Publishers.
- Chatterjee, S., & Datta, D. (1984). *An Introduction to Indian Philosophy.* University of Calcutta.
- Hiriyanna, M. (1993). *Essentials of Indian Philosophy.* Motilal Banarsidass.
- Kane, P.V. (1968). *History of Dharmasastra* (Vol. 1-5). Bhandarkar Oriental Research Institute.
- Muller, F. M. (2001). *The Sacred Books of the East* (Vol. 1-50). Motilal Banarsidass.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 12, No. 23 (168-178) July-December 2024 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

The Evolution of Women's Status in Ancient India : From Vedic Times to Post-Vedic Periods

*-Shiny K. Mathew **

Abstract

This article examines the evolution of women's status in ancient India, focusing on various dimensions including social, economic, religious, educational, and political roles. By analyzing Vedic literature, historical texts, and religious scriptures, the study highlights the dynamic shifts in women's status from revered figures to those facing significant restrictions.

Introduction

Women's labour and contributions have significantly shaped human civilization, yet their achievements have often been obscured by history. This article explores the evolving status of women in India, tracing their roles from ancient Vedic times through the post-Vedic periods. It aims to provide a comprehensive understanding of how women's positions have transformed across different eras.

In the Vedic period, women held a revered status, actively participating in religious rituals, philosophical discourses, and social activities. They enjoyed considerable freedoms, including the right to education, property, and participation in decision-making processes. Vedic literature, such as the Ṛgveda, highlights the presence of learned women scholars like *Gārgī* and *Maitreyī*, who contributed to intellectual and spiritual debates. This era depicted a society where women were valued not only as homemakers but also as intellectual and spiritual equals to men.

---

* Assistant Professor, Department of History, St. Joseph's College (Autonomous), Devagiri, Kozhikode

However, as India transitioned into the post-Vedic period, marked by the rise of Brahmanical dominance and the codification of societal norms, the status of women began to decline. Patriarchal structures became more rigid, and women's roles became increasingly confined to the domestic sphere. Texts like the *Manusmriti* codified laws that restricted women's freedoms, emphasizing their subordination to male authority figures-first their fathers, then their husbands, and finally their sons. Education for women became limited, and their participation in religious and public life diminished significantly.

Despite these restrictions, women continued to play crucial roles in maintaining and transmitting cultural and religious traditions. Some regional variations existed, where women retained a degree of autonomy and influence, particularly in matrilineal societies in southern India. Additionally, the *Bhakti* and *Sufi* movements in medieval India saw a resurgence of women's voices in spiritual and cultural realms, challenging orthodox norms and advocating for gender equality.

By analyzing Vedic literature, historical texts, and religious scriptures, this study highlights the dynamic shifts in women's status from revered figures to those facing significant restrictions. It also explores the socio-economic, religious, educational, and political dimensions of women's lives, providing a nuanced understanding of their evolving roles in ancient India. Through this exploration, the article aims to shed light on the complexities of gender dynamics and the resilience of women in the face of changing societal norms.

Social Status in the Vedic Period

Overview of Vedic Society

The Vedic period in ancient India, spanning roughly from 1500 BCE to 500 BCE, represents a formative era in Indian history. Central to this period is the Ṛg-Veda, one of the oldest sacred texts, which provides valuable insights into the societal and cultural norms of the time. The Ṛg-Veda portrays a society where women held a significant and respected place. Unlike in later periods, the Vedic texts suggest that women were actively involved in intellectual, religious, and domestic spheres.

The Ṛg-Veda describes women with dignity and respect, highlighting their participation in rituals and intellectual pursuits. Women

were not only seen as essential to domestic life but also as crucial contributors to the spiritual and ritualistic practices. The hymns often include references to the divine feminine, emphasizing the importance of goddesses like *Uṣā*, the dawn goddess, and *Aditi*, the mother of the gods. These deities symbolize aspects of creation, fertility, and renewal, reflecting the high regard for feminine power and presence in Vedic cosmology.

In family and society, Vedic women enjoyed a status that allowed them participation in the spiritual and intellectual life of the community. They were involved in the performance of rituals and the recitation of Vedic hymns, roles that indicate their significant standing in religious and cultural practices.

Marriage and Family Life

Marriage in Vedic society was considered a sacred institution, deeply intertwined with religious and social norms. The Vedic texts reflect a view of marriage as a sacramental partnership, where both partners played active roles. Women had a degree of autonomy in selecting their spouses, a freedom that contrasted with the more rigid practices seen in later periods. The choice of a life partner was often guided by considerations of personal compatibility and familial alliances.

Importantly, child marriage was not prevalent in the Ṛg-Vedic era. The texts suggest that marriages typically occurred at a more mature age, allowing individuals to enter marriage with greater maturity and understanding. This practice contributed to a more balanced and respectful relationship between spouses.

Women's roles extended beyond the domestic sphere, as they actively participated in festivals and public gatherings. These occasions were not merely social events but were imbued with spiritual significance. Women played integral roles in these ceremonies, contributing to their prominence and respect within the community.

Examples of Prominent Women

Several notable women from the Vedic period exemplify the elevated status of women during this time. Figures such as *Ghoṣā, Apālā, Lopāmudrā,* and *Viśvāvārā* stand out as prominent intellectuals and poets whose contributions were celebrated in Vedic literature.

- **Goṣā :** Renowned for her hymns and spiritual insights, Goṣā was a poetess whose works were integral to the Rig-Vedic tradition. Her compositions reflect both intellectual depth and spiritual fervor, highlighting her prominent role in Vedic society.
- **Apālā :** Another notable figure, Apala is celebrated for her hymns and contributions to the spiritual discourse of the time. Her presence in the Vedic texts underscores the significant role women played in the intellectual and religious life of the period.
- **Lopāmudrā :** Known for her dialogues and poetic contributions, Lopāmudrā is a revered figure in Vedic literature. Her intellectual exchanges and hymns reflect her profound knowledge and the high regard in which she was held.
- **Viśvāvārā :** Viśvāvārā's role as a poetess and her contributions to Vedic hymns further illustrate the respect and status women enjoyed in this period. Her works emphasize the role of women in shaping the spiritual and cultural narratives of the time.

Economic Status in Ancient India

Economic Independence

In ancient India, women were actively involved in various economic activities, contributing significantly to household and agrarian economies. Their roles spanned agriculture, household industries, and crafts, reflecting their economic independence and influence. Women participated in farming activities, managing crops and livestock, which were essential to sustaining agrarian life. In household industries, they engaged in tasks such as spinning, weaving, and pottery, which were crucial for domestic and trade purposes.

The *Arthaśāstra*, an ancient Indian treatise on statecraft and economics attributed to *Kauṭilya* (Chanakya), provides insights into the legal and economic status of women. The text outlines provisions for women's property rights, emphasizing their entitlement to property and assets. Women could own and manage property, which played a role in their economic stability and independence. However, the extent of these rights and their practical application could vary, reflecting the complexities of ancient economic systems and social norms.

Property Rights and Limitations

The concept of *Stridhana* (property belonging to women) is significant in understanding women's property rights in ancient India. *Stridhana* encompassed gifts and assets received by women from their families or spouses, which were legally considered their personal property. This concept highlighted a degree of economic independence and security for women, allowing them to retain control over certain assets.

Despite these rights, limitations existed. The scope of Stridhana was often restricted by societal norms and practices, which could affect women's actual control over their property. Additionally, inheritance rights for women, particularly in the context of widows, were complex. Inherited property might be subject to various restrictions and could be influenced by prevailing social practices.

The treatment of widows in ancient India further illustrates the limitations on women's economic status. Widows faced specific societal and legal constraints, often losing access to their deceased husband's property. Although some provisions existed for their support, the practical application could be inconsistent, affecting their economic well-being.

Economic Contributions

Women's economic contributions in ancient India were diverse and substantial. They were involved in activities such as *weaving*, which was both an economic and cultural practice. Weaving was not only a domestic craft but also an important trade activity, with women producing textiles that were traded locally and beyond. This involvement in weaving illustrates women's role in sustaining and expanding the economic fabric of ancient society.

In addition to weaving, women contributed to *teaching* and other *economic activities*. They were involved in educating their children and the next generation, which had indirect economic benefits by fostering skilled and knowledgeable individuals. Women's roles in various economic activities, from managing household industries to participating in trade and crafts, underscore their integral role in the economic structure of ancient India.

Religious Status in Ancient India

Religious Roles and Rights

In ancient India, women's participation in religious rituals and sacrifices was significant, reflecting their integral role in spiritual practices and community life. Women were actively involved in various religious ceremonies, including ***yajñas (sacrifices)*** and ***pūjās (worship rituals)***. Their participation was essential for the completion and efficacy of these rituals, which were central to Vedic and later Hindu religious practices.

Prominent female figures in religious texts, such as Gārgī and Maitreyī, exemplify the high regard for women's intellectual and spiritual roles. Gārgī, a renowned philosopher and scholar, is celebrated for her intellectual contributions and participation in philosophical debates during the Vedic period. Her engagement in the ***Brahmanical assemblies*** and her challenging questions to the sages highlight the respected role of women in religious and intellectual discourse.

Similarly, *Maitreyī*, another prominent figure, is noted for her profound philosophical insights. Her dialogue with the sage *Yājñavalkya*, as recorded in the Upaniṣads, underscores her deep spiritual knowledge and her active role in religious debates. Both Gārgī and Maitreyī represent the significant influence of women in shaping and participating in spiritual and intellectual life in ancient India.

Women also played a role in ***Brahmavidyā***, or the knowledge of the Brahman, which involves understanding the ultimate reality and spiritual wisdom. Their involvement in this sphere demonstrates their access to and contribution to high-level spiritual learning and discourse.

Manu's Views on Women's Honor

The Manusmriti, an ancient legal and ethical text attributed to the sage Manu, provides insights into the societal norms regarding women's honor and status. Manu's writings reflect the importance of honoring women within the context of *dharma* (righteousness). According to Manu, women were to be respected and their honor was crucial to maintaining societal and familial order.

Several quotes from the Manusmriti highlight the emphasis on honoring women:

1. "Where women are honored, there the gods are pleased." (Manusmriti 3.56)

2. "A house where women are not honored is doomed to suffer misfortune." (Manusmriti 3.57)

These statements from Manu underscore the belief that honoring women was not only a matter of personal respect but also a religious and social obligation. Such views reflect the complex and multifaceted nature of women's status in ancient Indian society. While religious texts acknowledged and emphasized the importance of women's roles and honor, the practical application of these principles could vary widely depending on societal norms and local practices.

Education in Vedic Times

In Vedic times, women's education and intellectual pursuits were highly emphasized. Women were encouraged to participate in scholarly activities, and they had access to the same educational opportunities as men. This period, known for its progressive views on gender roles, saw women engaging deeply in philosophical and religious discourses. Education was considered essential for both men and women to achieve spiritual and intellectual growth.

Vedic literature provides numerous examples of educated women who made significant contributions to various fields. *Gārgī Vāchaknavi*, one of the most prominent female scholars of the Vedic period, is renowned for her participation in debates with male sages, including the famous philosopher *Yājñavalkya*. Her intellectual prowess and deep understanding of Vedic philosophy earned her great respect.

Another notable figure is Maitreyi, a philosopher and scholar who also engaged in profound discussions with Yājñavalkya. Maitreyī's curiosity and quest for knowledge, particularly concerning the nature of the self and immortality, highlight the advanced level of women's education during this era. Additionally, Lopāmudrā, a poet and philosopher, is credited with composing hymns in the Ṛgveda, showcasing women's contributions to Vedic literature and spiritual traditions.

Post-Vedic Developments

As India transitioned into the post-Vedic period, there was a noticeable decline in the emphasis on women's education. The rise of patriarchal norms and the codification of societal rules by texts like the Manusmriti led to a more restrictive environment for women. These texts

reinforced the notion that women's primary roles were as wives and mothers, and their education became secondary.

Despite these challenges, there were periods and regions where women's education continued to thrive. The Buddhist era, for example, saw resurgence in the importance of women's education. Buddhist monasteries and nunneries provided women with opportunities to study religious texts and engage in spiritual practices. Prominent female figures like *Mahāprajāpati Gotamī*, the Buddha's aunt and foster mother, and the nun *Dhammadinna* were known for their scholarly achievements and contributions to Buddhist teachings.

Co-education and Home Schooling

References to co-education can be found in the epics like the Mahābhārata and the Rāmāyana, where both boys and girls were taught together in the *gurukulas* (ancient schools). These epics depict a time when education was accessible to all, irrespective of gender, and highlight the tradition of holistic education that included Vedic knowledge, arts, and sciences.

In addition to formal education, home schooling was a prevalent tradition for women. Mothers and grandmothers played a crucial role in educating young girls, passing down knowledge of scriptures, rituals, and household management. This informal education system ensured that women, even if restricted from formal institutions, continued to acquire essential skills and knowledge within their homes.

In conclusion, the educational status of women in ancient India evolved significantly over time. The Vedic period was marked by a progressive approach to women's education, fostering an environment where women like Gārgī, Maitreyī, and Lopāmudrā could thrive as scholars and philosophers. However, the post-Vedic period saw a decline in educational opportunities for women due to the rise of patriarchal norms. Despite these challenges, instances of female education persisted, particularly during the Buddhist era. The traditions of co-education and home schooling also played a crucial role in preserving women's education, highlighting the resilience and adaptability of women in ancient India. Through this exploration of educational status, we gain a deeper understanding of the dynamic shifts in women's roles and the enduring importance of education in their lives.

Women's Political Roles in Vedic Society

In Vedic society, women played significant roles in public and political life. They were not merely confined to the domestic sphere but were active participants in various societal functions, including politics and military activities. Women's involvement in public meetings, known as *sabhās* and *samitis*, is well-documented. These assemblies were important political institutions where discussions and decisions on community matters took place, and women's presence in these forums indicates their active role in shaping societal governance.

Military training for women was also a part of Vedic culture, reflecting the period's relatively egalitarian views on gender roles. Women were trained in archery, horse riding, and other combat skills, ensuring they were prepared to defend their communities if necessary. The Ṛgveda mentions several instances where women participated in battles, highlighting their bravery and military prowess.

One prominent example is *Viśpalā*, a warrior queen mentioned in the Ṛgveda. She is celebrated for her valor in battle and her resilience, even after losing a leg in combat. The tale of Viśpalā, who received a prosthetic iron leg and continued to fight, symbolizes the strength and determination of women in Vedic society. Her story stands as a testament to the significant political and military roles that women could hold during this period.

Women in Post-Vedic Politics

As Indian society transitioned into the post-Vedic period, the political roles of women became more restricted due to the increasing influence of patriarchal norms and the codification of gender roles. Despite these limitations, historical accounts provide numerous examples of women who held significant political power as queens, regents, and influential figures in governance.

One notable example is Queen Nayanikā, who ruled the Śātavāhana dynasty in the 1st century BCE. She served as a regent for her young son and managed the kingdom's affairs with great competence. Inscriptions from this period highlight her administrative skills and her role in maintaining political stability. Her reign is indicative of the political authority that some women could wield, even in a patriarchal society.

Another prominent figure is Queen Prabhāvatī Gupta of the

Vakataka dynasty, who ruled in the 4th century CE. She was the daughter of the Gupta Emperor Chandragupta II and brought significant political acumen to her reign. Prabhāvatī Gupta issued several land grants and inscriptions in her name, reflecting her authority and influence in governance.

During the medieval period, the role of women in politics continued to be significant in various dynasties. For instance, the Chola dynasty saw the reign of Queen Sembiyan Mahadevā, who played a crucial role in temple administration and cultural patronage. The Mughal period also witnessed powerful women like Nūr Jahān, who effectively ruled the empire during the reign of her husband, Emperor Jahāngīr. Nūr Jahān's political acumen and administrative skills were widely recognized, and she was instrumental in making important decisions and implementing policies.

Women also played essential roles in regional politics. In southern India, queens like Rānī Durgāvatī of Gondwānā and Rānī Chennamma of Kittur are remembered for their resistance against external invasions and their efforts to protect their kingdoms. Their leadership and military strategies highlight the significant political roles women could assume in times of crisis.

Conclusion

The status of women in ancient India was complex and multifaceted, evolving significantly over time. From the revered figures of the Vedic period to the more restricted roles in later times, women's contributions to society were profound. Understanding these historical shifts provides valuable insights into the ongoing discourse on gender and empowerment.

References :

- Bader, Clarisse. *Women in Ancient India.* Routledge, 2013, https://doi.org/10.4324/9781315011950.
- Sharma, Ram Sharan. *Economic History of Early India.* 2011.
- Singh, Anita. *Economic Condition of Women in Ancient India* (c. 1500 B.c. to 1200 A.d.). 2010.
- Altekar, *A. S. Position of Women in Hindi Civilization.* 2nd ed., Motilal Banarsidass, 1995.

- Malviya, Shrinitya. *A Study of Women in Ancient India and an Introduction to Crimes against Women.* 2008.
- Chakravarti, Uma. 'Beyond the Altekarian Paradigm: Towards a New Understanding of Gender Relations in Early Indian History'. *Social Scientist,* vol. 16, no. 8, JSTOR, Aug. 1988, p. 44, https://doi.org/10.2307/3517507.
- Jaiswal, A. 'Cultural Evolution of Man During Palaeolithic Period'. International Journal of Current Research and Modern Education, vol. 1, no. 1, 2016, pp. 65-75.
- Jaiswal, Ajeet. 'An Anthropological Vision on the Impact of Globalization on Indian Rural Women: A Critical Reality'. *Arts and Social Sciences Journal,* vol. 05, no. 02, OMICS Publishing Group, 2016, https://doi.org/10.4172/2151-6200.100072.
- ---. 'Indigenous Knowledge System and Traditional Medicinal Practitioner'. *Anthropology and Ethnology Open Access Journal,* vol. 2, no. 1, Medwin Publishers, 2019, https://doi.org/10.23880/aeoaj-16000119.
- Subrahmanyam, Kambhampati, and Naoremjiteswori Devi. 'Women in the Rig Vedic Age'. *International Journal of Yoga - Philosophy Psychology and Parapsychology,* vol. 2, no. 1, Medknow, 2014, p. 1, https://doi.org/10.4103/2347-5633.157985.
- Tripathi, L. K. *Position and Status of Women in Ancient India. Volume-I.* 1988.
- Nandal, V. 'Status of Women through Ages in India'. *International Research Journal of Social Sciences,* vol. 3, no. 1, 2014, pp. 21-26.
- Salawade, S. N. 'Status of Women in Ancient India : The Vedic Period'. *Indian Streams Research Journal,* no. 2, 2012, pp. 1-3.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri (Deemed to be University), Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Deemed to be University, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, Uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri (Deemed to be University)

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contact Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
July-December 2024

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate from Brahma to Jaimini School of Vedic thoughts for removing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों की वैदिक विचारधारा को वेद विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के लिए गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।